॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥

२

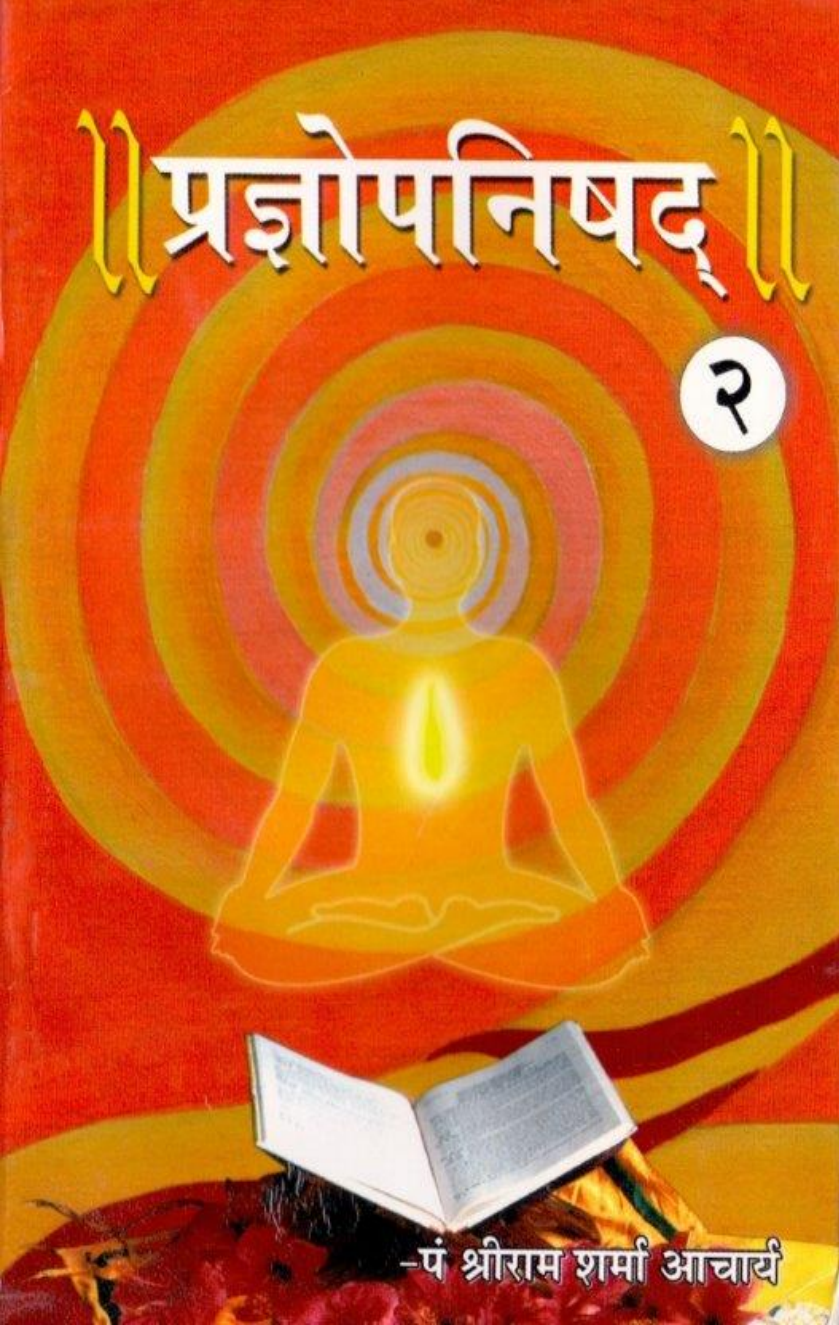

-पं श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञोपनिषद्

द्वितीय खंड

संपादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा—२८१००३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रथम संस्करण : २००६

मूल्य : १५.०० रुपये

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

प्राक्कथन

परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने 'प्रज्ञापुराण' के रूप में जन-जन को लोक-शिक्षण का एक नया आयाम दिया है। इसमें उनने चिरपुरातन उपनिषद् शैली में आज के युग की समस्याओं का समाधान दिया। यह क्रांतिदर्शी चिंतन उनकी लेखनी से जब निस्सृत हुआ तो इसने पूरे क्षेत्र को उद्वेलित करके रख दिया। वस्तुतः यह पुरुषार्थ हजारों वर्षों बाद सप्तर्षियों की मेधा के समुच्चय को लेकर जन्मे प्रज्ञावतार के प्रतिरूप आचार्यश्री द्वारा जिस तरह किया गया, उसने इस राष्ट्र व विश्व की मनीषा को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया।

प्रज्ञा पुराण की रचना परमपूज्य गुरुदेव ने क्यों की? इस तथ्य को समझने के लिए प्रज्ञा पुराण के प्रथम खंड की भूमिका में उनके द्वारा लिखे गए अंश ध्यान देने योग्य हैं—'अपना युग अभूतपूर्व एवं असाधारण रूप से उलझी हुई समस्याओं का युग है। इनका निदान और समाधान भौतिक-क्षेत्र में नहीं, लोक-मानस में बढ़ती जा रही आदर्शों के प्रति अनास्था की परिणति है। काँटा जहाँ चुभा है, वहीं कुरेदना पड़ेगा। भ्रष्ट-चिंतन और दुष्ट आचरण के लिए प्रेरित करने वाली अनास्था को निरस्त करने के लिए ऋतंभरा महाप्रज्ञा के दर्शन एवं प्रयोग ब्रह्मास्त्र ही कारगर हो सकता है।

प्रस्तुत प्रज्ञा पुराण में भूतकाल के उदाहरणों से भविष्य के सृजन की संभावना के सुसंपन्न हो सकने की बात गले उतारने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि परिवर्तन प्रकरण को संपन्न करने के लिए वर्तमान में किस रीति-नीति को अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी और किस प्रकार जाग्रतात्माओं को अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना होगा।

उन्होंने इसे उपनिषद् शैली में ऋषियों के संवाद रूप में प्रकट किया। जनसामान्य के लिए पुराणों वाली कथा-शैली अधिक रुचिकर एवं ग्राह्य होती है, इसलिए उन्होंने उपनिषद् सूत्रों के साथ प्रेरक कथानक एवं संस्मरण जोड़कर उसे पुराण रूप दिया। इस रूप में चार खंड प्रकाशित हुए, यह इतने लोकप्रिय हुए कि सन् १९७९ से अब तक बीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वाध्यायशीलों के लिए उन्होंने इसे प्रज्ञोपनिषद् के रूप में प्रकाशित करने का भी निर्देश दिया था। आचार्यश्री के वाङ्मय की इकाई के रूप में इसके छह खंडों को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया गया। उसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता को देखते हुए स्वाध्याय-प्रेमियों की सुविधा की दृष्टि से प्रज्ञोपनिषद् के छहों खंडों को अलग-अलग केवल श्लोक एवं टीका के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसका नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए पूज्य आचार्यश्री ने प्रारंभिक निर्देशों में लिखा—

"दैनिक स्वाध्याय में इसका प्रयोग करना हो तो गीता पाठ, रामायण पाठ, गुरुग्रंथ साहब स्तर पर ही इसे पवित्र स्थान एवं श्रद्धाभरे वातावरण में धूप, दीप, अक्षत, पुष्प जैसे पूजा-प्रतीकों के साथ इसका वाचन करना-कराना चाहिए। जो पढ़ा जाए, समझ-समझकर धीरे-धीरे ही। प्रतिपादनों को अपने जीवनक्रम में सम्मिलित कर सकना, किस प्रकार, किस सीमा तक संभव हो सकता है, यह विचार करते हुए रुककर पढ़ा जाए।"

छहों खंडों की विषयवस्तु इस प्रकार है—प्रथम खंड में आज के युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था-संकट का विवरण है। द्वितीय खंड धर्म के आधारभूत शाश्वत गुणों पर, तृतीय खंड परिवार-संस्था, गृहस्थ जीवन, नारीशक्ति के विभिन्न पक्षों पर, चतुर्थ खंड देव संस्कृति के आज लुप्त हो रहे उन पक्षों पर केंद्रित है, जिन पर भारतीय धर्म टिका है। पाँचवाँ खंड सर्वधर्म सद्भाव को समर्पित है, जो विश्व धर्म का भविष्य में आधार बनेगा। अंतिम छठा खंड वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की धुरी पर लिखा गया है। आर्य संस्कृति के यज्ञ विज्ञान, परोक्ष जगत आदि पक्ष वैज्ञानिक धर्म की पृष्ठभूमि में समझाए गए है।

उक्त छह प्रकरणों को पृथक-पृथक पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य यह है कि विज्ञजन इसका पाठ-अध्ययन नियमित रूप से करते रह सकें। इससे युगऋषि द्वारा अवतारित युगांतरकारी सूत्र जन-जन के विचारों एवं आचरण में प्रवेश करके युग परिवर्तन-उज्ज्वल भविष्य का ठोस आधार तैयार कर सकेंगे।

युगऋषि-प्रज्ञापुरुष की जन्म शताब्दी (२०११-२०१२) की तैयारी की वेला में उनका ही रचा यह युगदर्शन उन्हीं के चरणों में समर्पित है।

—ब्रह्मवर्चस

भूमिका

देवर्षि नारद और विष्णु भगवान के संवाद रूप में जो पृष्ठभूमि प्रज्ञोपनिषद् के प्रथम खंड में बनी थी, इसी को युगऋषि आचार्यश्री ने इस द्वितीय खंड में आगे बढ़ाया है। ऋषि-मुनियों के समागम के माध्यम से नैमिषारण्य में देवमानवों के निर्माण हेतु किन गुणों का संवर्द्धन अनिवार्य है, इस पर औपनिषदिक चर्चा का वर्णन है।

इस खंड में आश्वलायन ऋषि सत्राध्यक्ष हैं। प्रथम अध्याय में मनुष्यों के विभिन्न वर्गों की चर्चा है एवं सामान्य मानव जब महामानव बनता है तो उस पर दैवी अनुकंपा बरसती है, यह ऋषि कहते हैं। देवमानवों का उत्पादन बढ़े, वे कल्पवृक्ष की तरह सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन करते रहें, इसकी आवश्यकता बताई गई।

द्वितीय अध्याय में धर्मधारणा की आवश्यकता, धर्म की सनातनता, सार्वभौमिकता पर प्रकाश डालकर इसी से महामानवों के निर्माण की प्रक्रिया को समझाया गया है। ऋषि आश्वलायन एक प्रश्न के उत्तर में धर्म के दस प्रधान लक्षणों की, पाँच युग्मों के रूप में चर्चा करते हैं।

तृतीय अध्याय में इसी युग्म में से एक सत्य-विवेक की बात कही गई है। श्रेय भावना ही सत्य है, यथार्थता ही सत्य है तथा विवेक उसी के साथ जुड़ा है। विवेक दूरदर्शिता का नाम है, ऋषि यह समझाते हैं। धर्म का मूलस्वरूप सत्य है, विवेक ही मनुष्य को सत्य की खोज में अग्रसर करता है।

चतुर्थ अध्याय संयमशीलता एवं कर्त्तव्यपारायणता के युग्म पर केंद्रित है। संयम चार प्रकार के हैं एवं शक्तिसंचय कर वे मनुष्य को कर्त्तव्य के पथ पर आरूढ़ करते हैं। कर्मयोगी बनें एवं अपनी तृष्णा पर अंकुश लगाकर मानवी गरिमा के अनुरूप कर्त्तव्य करें, इसी में मनुष्य की शोभा है।

पाँचवाँ अध्याय अनुशासन-अनुबंध के युग्म पर ध्यान आकर्षित कराता है। पहला सामाजिक गुण हैं एवं सभ्यता के रूप में जाना जाता है। दूसरा आंतरिक गुण है एवं सुसंस्कारिता के रूप में माना जाता है। शालीनता होगी तो दोनों निभेंगे।

छठा अध्याय सौजन्य-पराक्रम के युग्म की बात कहता है। दोनों एकदूसरे से अभिन्न हैं, अविच्छिन्न हैं।

सातवाँ अध्याय सहकार-परमार्थ प्रकरण पर है। ऋषि कहते हैं, सहकारिता ही विकास की कुंजी है और जब आत्मीयता का विस्तार व्यापक क्षेत्र में होता है तो '**वसुधैव कुटुंबकम्**' की भावना जागने लगती है। महामानव सुखकर-सहकार का महत्त्व समझते हैं और औरों के कल्याण में लगे रहते हैं।

धर्मधारणा के तत्त्वज्ञान पर केंद्रित यह द्वितीय खंड मनुष्य को अपने जीवन को श्रेष्ठतम उपयोग कर महामानव बनने की दिशा में प्रेरित करता है।

—ब्रह्मवर्चस

प्रज्ञोपनिषद्

द्वितीय मंडल

विषय-सूची	पृष्ठ सं०
१. प्राक्कथन	३
२. भूमिका	५
३. गुरु-ईश-वंदना	८
४. देवमानव-समीक्षा प्रकरण	९
५. धर्मविवेचन प्रकरण	२१
६. सत्य-विवेक प्रकरण	३७
७. संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता प्रकरण	४९
८. अनुशासन-अनुबंध प्रकरण	७३
९. सौजन्य-पराक्रम प्रकरण	७८
१०. सहकार-परमार्थ प्रकरण	९१
११. युगदेव-स्तवन (संस्कृत-हिंदी)	१०७
१२. महाकालाष्टकम् (संस्कृत)	१११

॥ गुरु-ईश-वंदना ॥

गुरु-ईश-वंदना के इन श्लोकों से भावपूर्ण वंदना करके 'प्रज्ञोपनिषद्' का पारायण प्रारंभ किया जा सकता है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप! ॥
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
नमस्ते नमस्ते विभो! विश्वमूर्ते! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते!।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य ! नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य!॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

ॐ वन्दे भगवतीं देवी, श्रीरामञ्च जगद्गुरुम्।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा, प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्री रूपिणे सदा।
यस्य वागमृतं हन्ति, विषं संसार संज्ञकम्॥

ॐ प्रखर प्रज्ञाय विद्महे, महाकालाय धीमहि, तन्नः श्रीरामः प्रचोदयात्॥ ॐ सजल श्रद्धायै विद्महे, महाशक्त्यै धीमहि, तन्नो भगवती प्रचोदयात्॥

॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥

॥ द्वितीय मंडल ॥

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देवमानव-समीक्षा प्रकरण

एकदा नैमिषारण्ये ज्ञानसंगम उत्तमः ।
मनीषिणां मुनीनां च बभूव परमाद्भुतः ॥ १ ॥
काश्याः पाटलिपुत्रस्य ब्रह्मावर्तस्य तस्य च ।
आर्यावर्तस्य सर्वस्य यानि क्षेत्राणि संति तु ॥ २ ॥
कपिलवस्तोर्विशेषेण तेभ्यः सर्वेऽपि संगताः ।
प्रज्ञापुरुषसंज्ञास्ते मूर्द्धन्या धन्यजीवनाः ॥ ३ ॥

टीका—एक बार मुनि-मनीषियों का एक उत्तम ज्ञानसंगम नैमिषारण्य क्षेत्र में हुआ, जो अपने आप में बड़ा अद्भुत था। आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, काशी, कपिलवस्तु, पाटलिपुत्र आदि समीपवर्ती क्षेत्रों के सभी मूर्द्धन्य उत्तम जीवनयापन करने वाले प्रज्ञापुरुष उसमें एकत्र हुए ॥ १-३ ॥

समागमाः पुराप्येव समये जनबोधकाः ।
काले काले भवंति स्म सद्विचाराभिमन्थनैः ॥ ४ ॥
बहुमूल्यानि रत्नानि यथा सागरमंथनैः ।
यत्र दिव्यानि सर्वाणि प्रादुर्भूतानि संततम् ॥ ५ ॥
मनीषिणोऽधिगच्छेयुर्मार्गदर्शनमुत्तमम् ।
शोचितुं कर्तुमेवाऽपि सहैवाऽत्र जनाः समे ॥ ६ ॥

लभन्तां समयं मुक्त्यै काठिन्यात्प्रगतेः पथि।
गन्तुं चाऽपि समारोह एतदुद्दिश्य निश्चितः॥ ७॥

टीका—समागम पहले भी समय-समय पर होते रहते थे, ताकि विचार-मंथन से समुद्र-मंथन की तरह कोई बहुमूल्य रत्न निकले, मनीषियों को अधिक सोचने और करने का सामयिक प्रकाश मिले, साथ ही जनसमुदायों को कठिनाई से छूटने और प्रगति-पथ पर अग्रसर होने का अवसर उपलब्ध होता रहे। इस बार का समारोह भी इसी प्रयोजन के लिए नियोजित किया गया था॥ ४-७॥

जिज्ञासानां समाधानहेतोरत्र विशेषतः।
व्यवस्था विहिता प्रातर्नित्यकर्मविनिर्वृतौ॥ ८॥
सत्संगो निश्चितः सर्वैस्तत्र रम्ये तपोवने।
क्रमः सप्ताहपर्यन्तं भविष्यत्यपि निश्चितः॥ ९॥
तद्दिने विधिवत्तस्य शुभारंभो बभूव च।
अभूत्तत्र सभाध्यक्ष आश्वलायन उत्तमः॥ १०॥
सर्वे कुर्वंति प्रश्नान् स्वान् सभाध्यक्षः क्रमादसौ।
उत्तरं दास्यतीत्येवं व्यवस्था तत्र निश्चिता॥ ११॥

टीका—जिज्ञासाओं के समाधान के लिए उस समागम में विशेष व्यवस्था की गई थी। प्रातः नित्यकर्म से निवृत्त होने पर सत्संग चलाने का निश्चय उस रमणीय तपोवन में हुआ। एक सप्ताह तक यह क्रम चलना था। सो उस दिन उसका विधिवत् शुभारंभ हुआ। सत्राध्यक्ष आश्वलायन थे। ऐसी व्यवस्था थी कि प्रश्न कोई भी कर सकते थे और उत्तर केवल सत्राध्यक्ष ही देते थे॥ ८-११॥

प्रथमे दिवसे तत्र जिज्ञासां प्रस्तुतां व्यधात्।
ऐतरेयो महर्षिः स श्रेष्ठ आचारवान् मुनिः॥ १२॥

देव लब्धाः समानास्ताः सुविधा मानवैः समैः।
प्रभुदत्ताः परं तेषु मानवाः केचनात्र तु॥ १३॥
उदरंभरितायां ते संतानोत्पत्तिकेऽथवा ।
सीमिताश्च सदैवात्र तैलयन्त्रवृषा इव ॥ १४॥
जीवनं यापयन्त्येवं पशुतुल्यस्थितिं गताः।
ताडिताः पतिताः किं वा जनैः सर्वैस्तिरस्कृताः॥ १५॥
संकटानात्महेतोश्च भावयंति सदैव ते।
पातयंति जनानन्यान् पीडयन्त्यपि संततम् ॥ १६॥

टीका—प्रथम दिन की जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए सदाचारी मुनि श्रेष्ठ ऐतरेय ने पूछा—हे देव ! मनुष्य को ईश्वरप्रदत्त सभी सुविधाएँ प्रायः समान मात्रा में उपलब्ध हैं, पर उनमें कुछ तो पेट-प्रजनन भर तक सीमित रहकर कोल्हू के बैल के समान मरते-खपते पशुओं की तरह साँसें पूरी कर लेते हैं। कुछ पतित-तिरस्कृत बनते, प्रताड़नाएँ सहते दिन गुजारते हैं। अपने लिए संकट खड़े करते और दूसरों को सदा गिराते-सताते रहते हैं। १२-१६॥

ईदृशा अपि संत्यत्र जना ये स्वयमुन्नताः।
भवन्त्यन्यान् यथाशक्ति सदैवोत्थापयन्त्यपि॥ १७॥
तारयंति स्वयं श्रेयो यशः सम्मानमेव च।
सहयोगं महामर्त्या विंदन्त्येते सुरोपमाः ॥ १८॥
असंख्याः प्रेरणास्तेभ्यः प्राप्नुवंति तथैव च।
पुरावृत्तकरास्तेषां गाथाः स्वर्णाक्षरेषु च ॥ १९॥
लिखन्त्यस्या भिन्नतायाः कारणं किं च विद्यते।
उच्यतां भवता देव ! विषयेऽस्मिंस्तु विस्तरात्॥ २०॥

टीका—किंतु कुछ ऐसे भी होते हैं, जो स्वयं ऊँचे उठते, दूसरों को उठाते, पार करते, श्रेय प्राप्त करते हैं। ऐसे देवोपम महामानवों को यश, सम्मान और सहयोग भी मिलता है। असंख्य उनसे प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं। इतिहासकार उनकी गुण-गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखते हैं। इस भिन्नता का कारण क्या है ? सो समझाकर कहिए॥ १७-२०॥

आश्वलायन उवाच—

तात मर्त्याः समानाः वै निर्मित्ताः प्रभुणा समे।
प्रियाः सर्वेऽपि तस्यात्र निर्विशेषं दयानिधे॥ २१॥
सर्वेभ्यो व्यतरत् सोऽत्र समानाः सुविधाः प्रभुः।
मार्गं चिन्वंति मर्त्याश्च स्वेच्छया मार्गमाश्रिताः॥ २२॥
यांति तत्रैव यत्रायं विरामं मार्ग एति च।
उच्यंते स्वार्थिनस्त्वत्र पशवो नररूपिणः॥ २३॥
स्वार्थमेवानुगच्छंति नरास्ते तु प्रतिक्षणम्।
अन्येषां सुखसौविध्ये सहयोगं न कुर्वते॥ २४॥
प्राप्नुवंति यदेवैतद् निगिरंति च पूर्णतः।
कष्टे कस्याऽपि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते॥ २५॥
साहाय्यस्यापि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते।
अन्विष्यति परत्रेह निजास्ताः सुविधा नराः॥ २६॥
सहानुभूतिमेतेऽपि नाप्नुवंति च कस्यचित्।
जीवंतो नीरसं मृत्योर्दिवसान् पूरयंति ते॥ २७॥

टीका—आश्वालायन बोले—हे तात! भगवान ने सभी मनुष्य समान बनाए हैं। उस दयानिधि को सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। सभी को उसने समान सुविधाएँ तथा परिस्थितियाँ भी प्रदान की हैं।

लोग अपनी इच्छानुसार मार्ग चुनते हैं और जहाँ वह मार्ग जाता है, वहाँ जा पहुँचते हैं। स्वार्थ परायणों को नर-पशु कहते हैं। वे अपने काम-से-काम रखते हैं। दूसरों की सुख-सुविधा में हाथ नहीं बँटाते। जो पाते हैं, निगलते रहते हैं। किसी के दुःख में उन्हें सहानुभूति नहीं उपजती। सहायता करने की इच्छा भी नहीं होती। लोक और परलोक में अपनी ही सुविधाएँ खोजते हैं। ऐसों को किसी की सहानुभूति भी नहीं मिलती। फलतः वे एकाकी नीरस, जीवन जीते हुए मौत के दिन पूरे करते हैं॥ २१-२७॥

येषां प्रवृद्धास्त्वाकांक्षा आतुरा विभवाय ये।
अहंत्वाप्त्यै स्पृहास्त्येषां कुबेर इव चाढ्यताम्॥ २८॥
वृत्रहेव सुसामर्थ्यमधिगन्तुं सदैव तु।
सज्जास्ते जीवितुं नैव सामान्यैरिव नागरैः॥ २९॥
दर्पाहंकारयोर्नैव विना ते तु प्रदर्शनम्।
तृप्तिं नानुभवन्त्येव पुरुषाश्चेदृशा द्रुतम्॥ ३०॥
अर्जितुं संपदः स्वस्य वर्चः स्थापयितुं समे।
कुटुंबस्यापि जायन्ते व्यग्रा लोकैषणारताः॥ ३१॥

टीका—जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ अतिशय बढ़ी-चढ़ी हैं, जो बड़प्पन और वैभव बटोरने के लिए आतुर हैं, जिन्हें कुवेर-सा धनी, इंद्र-सा समर्थ बनने की ललक है, वे औसत नागरिक का सामान्य जीवन जीने और संतोषपूर्वक रहने के लिए तैयार नहीं होते। दर्प और अहंकार प्रदर्शन किए बिना जिन्हें तृप्ति नहीं होती। ऐसे लोग जल्दी ही संपदा बटोरने और अपना तथा परिवार का वर्चस्व बढ़ाने के लिए आतुर हो उठते हैं॥ २८-३१॥

अस्या उत्कटलिप्साया: पूर्त्यै गृह्णंति ते तत:।
कुकर्माचरणं तत्र प्रवृत्तीरासुरीः सदा ॥ ३२॥
मार्गमेतद् विना ते च नरा नानुभवंति तु।
वृत्त्या सरलतया स्यातां सात्त्विकत्वं च सौम्यता॥ ३३॥
श्रमस्तत्र विशेषः स धैर्यवत्ता तथैव च।
अल्पलाभ सुसंतोषवृतिमत्ताऽप्यपेक्षिता ॥ ३४॥
स्वीकुर्वंति न चेदं ते पुरुषा उद्धता इह।
अन्यान् वञ्चयितुं लोकांस्तथा पातयितुं पुनः॥ ३५॥
शोषणं पीडनं नृणां कर्तुं नैव कदाचन।
संकोचं तेऽधिगच्छंति राक्षसाः क्रूरतां गताः॥ ३६॥

टीका—इस उत्कट ललक लिप्सा की पूर्ति के लिए उन्हें कुकर्म करने और अपराधी असुर प्रवृत्तियाँ अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता। सौम्य सात्त्विकता तो सादगी के साथ ही निभती है। उसमें अधिक परिश्रमी, धैर्यवान और स्वल्प संतोषी रहना पड़ता है। यह उन उद्धतों को स्वीकार नहीं होता। ऐसी दशा में दूसरों को ठगने, चूसने, गिराने और सताने में क्रूरता के धनी को कोई संकोच नहीं होता॥ ३२-३६॥

असुराः दानवाः ह्येते दैत्याः नूनं नराः समे।
पिशाचानां च वर्गोऽपि गण्यंते स्वार्थसौहृदाः॥ ३७॥
जुगुप्स्यास्ते भयाल्लोभाद्देवमर्त्यैः कदाचन।
अनुनेयाः परं रोषः सर्वेषां हृदि तान् प्रति॥ ३८॥
प्राप्यैवावसरं लोकाः प्रतिशोधं भजंति च।
मित्राण्यपि च शत्रुत्वं भजंते समये सति॥ ३९॥

धिक्तैवैतेषु सर्वत्र वर्षतीह प्रताडनम्।
सहंते ते लभंते च दण्डं राजसमाजयोः॥ ४०॥
नारक्यस्ताडनास्तेभ्यः परलोके सुनिश्चिताः।
अशांतास्ते परान् सर्वानशांतानेव कुर्वते॥ ४१॥

टीका—यह नर-पिशाच वर्ग है। इन्हें असुर या दैत्य- दानव भी कहते हैं। उन पर घृणा बरसती है। भय या लोभ से ही कोई उनकी चापलूसी भले करे। भीतर-ही-भीतर सभी को रोष रहता है। दाँव लगते ही लोग प्रतिशोध लेते हैं। मित्र भी अवसर मिलने पर शत्रु जैसा आचरण करते हैं। सर्वत्र उन पर धिक्कार बरसता है। वे आत्मप्रताड़ना सहते हैं। समाज दंड भी भुगतने पड़ते हैं। परलोक में उनके लिए नारकीय प्रताड़नाएँ सुनिश्चित ही हैं। वे सदा अशांत रहते हैं तथा औरों को भी अशांत बनाते हैं॥ ३७-४१॥

वर्गस्तृतीयोऽप्यत्रास्ति देवमानवरूपिणाम्।
आकांक्षा लौकिकीस्त्यक्त्वा सामान्यैर्नागरैरिव॥ ४२॥
जीवनं निर्वहन्त्यत्र परिवारं लघुं निजम्।
स्वावलंबिनमित्यर्थं कुर्वतेऽपि च संस्कृतम्॥ ४३॥
संग्रहेच्छां न गृह्णंति दर्पं नैव महत्त्वगम्।
वाञ्छन्त्येवं प्रियां विप्रवृत्तिं स्वीकुर्वतामिह॥ ४४॥

टीका—तीसरा वर्ग देव मानवों का है। वे लौकिक महत्त्वाकांक्षाओं को विसर्जित करके औसत नागरिक का निर्वाह स्वीकार करते हैं। परिवार छोटा रखते और उसे स्वावलंबी-सुसंस्कारी बनाते हैं। संग्रह की लालसा नहीं रखते। बड़प्पन का दर्प दिखाने की भी इच्छा नहीं रखते और स्वेच्छा से ब्राह्मण वृत्ति अपना लेते हैं॥ ४२-४४॥

नृणां परार्थकार्येषु बाधानैवोपजायते।
निर्वाहः परमार्थश्च सिद्धयतः सार्धमेव तु॥ ४५॥
अनुभवंति च प्रत्यक्षमिदं ते देवमानवाः।
गुणकर्मस्वभावानां स्तरं कुर्वंति प्रोन्नतम्॥ ४६॥
क्षणं नैव तु व्यर्थं ते हापयंति सदैव च।
विवेकस्याथ शौर्यस्य दायित्वस्याऽपि मानवाः॥ ४७॥
विश्वास-भावनायाश्च शुभादर्शैः स्वजीवनम्।
ओतं प्रोतं प्रकुर्वंति दिव्यां दृष्टिं श्रयन्ति च॥ ४८॥

टीका—श्रेष्ठ वृत्तियाँ अपना लेने के उपरांत फिर मनुष्य को परमार्थ-प्रयोजनों में संलग्न होने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। निर्वाह और परमार्थ भली प्रकार साथ-साथ निभता रह सकता है, इसे वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अपने गुण- कर्म-स्वभाव का स्तर उठाते हैं। एक क्षण भी निरर्थक नहीं गुजारते। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के आदर्शों से जीवन को ओत-प्रोत करते हैं तथा दिव्यदृष्टि प्राप्त करते हैं॥ ४५-४८॥

अत्र ते चात्मकल्याणं विश्वकल्याणमेव च।
प्रयोजनं तु पश्यंति सिद्धमेवोभयं नराः॥ ४९॥
हृदि चोत्कृष्टताहेतोः श्रद्धा नित्यं च चिंतने।
प्रज्ञोदेति शुभादर्शपक्षगा मंगलोन्मुखी॥ ५०॥
फलतश्चेदृशा मर्त्या देवतुल्यप्रवृत्तयः।
व्यवहारे स्वके लोकमानसस्य परिष्कृतेः॥ ५१॥
सत्प्रवृत्तिविकासस्य शुभे द्वेऽपि प्रयोजने।
स्वीकुर्वंति च मुख्यत्वाद् वंशराष्ट्राभिपूजिताः॥ ५२॥

टीका—आदर्शवादी जीवनक्रम में वे आत्मकल्याण और विश्वकल्याण के दोहरे प्रयोजन सधते देखते हैं। अंतःकरण में उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा-चिंतन में आदर्शों की मंगलमयी प्रज्ञा उभरती है। फलतः ऐसी देवोपम प्रवृत्ति के लोग अपने कर्म-व्यवहार में लोक-मानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति- संवर्द्धन के दो प्रयोजनों को प्रमुखता देते हैं और अपने वंश व राष्ट्र में पूजे जाते हैं॥ ४९-५२॥

सञ्चितं ज्ञानमेतेषामभ्यस्तः पुण्यदायकः।
परार्थः सततं कार्यरूपतामधिगच्छतः॥ ५३॥
आत्मसंतोषमेतेऽतः प्राप्नुवंति तथैव तु।
सम्मानं सहयोगं च विपुलं ते भजंत्यपि॥ ५४॥
अनुकंपा च दैवी सा वर्षतीवात्र तेषु तु।
त्रिविधानां सुयोगानां कारणादंतरंगके॥ ५५॥
क्षेत्रे यांति महत्त्वं ते लभंते चोन्नतिं तथा।
संसारे प्रगतेर्मार्गे ते नराः अभियान्त्यत्वम्॥ ५६॥

टीका—उनका संचित सद्ज्ञान और अभ्यस्त पुण्य-परमार्थ निरंतर कार्यान्वित होता रहता है। फलतः वे असीम आत्मसंतोष पाते हैं। लोक-सम्मान और सहयोग उन्हें प्रचुर मात्रा में मिलता है। दैवी अनुकंपा निरंतर बरसती है। इन त्रिविध सुयोगों के कारण वे अंतरंग-क्षेत्र में महान बनते, ऊँचे उठते और संसार क्षेत्र में प्रगति-पथ पर आगे बढ़ते रहते हैं॥ ५३-५६॥

ईदृशा एव लोकाश्च महामानवसंज्ञकाः।
उच्यंते धन्यतां यांति स्वयं चान्यान्नरानपि॥ ५७॥
संपर्के चागतान् धन्यान् कुर्वते चंदनस्य ते।
द्रुमा अन्यान् सुगंधाश्च यथावृक्षान्निरंतरम्॥ ५८॥

तेषामेव जनानां च कारणात् सकलं स्वयम्।
वातावरणमित्यर्थं जायते गंधवंधुरम्॥ ५९॥
दुःखदग्धा अपीहैते गन्धं धूपइवोत्तमम्।
प्रकाशमपि तन्वंति प्रदीप इव प्रोज्जलम्॥ ६०॥
यस्मिन् काले तथा क्षेत्रे पुरुषाः ईदृशा भुवि।
जायंते तानि सर्वाणि धन्यतां यांति भूतले॥ ६१॥

टीका—इसी प्रकार के व्यक्तियों को महामानव कहते हैं। वे स्वयं धन्य बनते हैं। संपर्क वालों को चंदनवृक्ष की तरह धन्य बनाते हैं। उनके कारण समूचा वातावरण महकने लगता है। जलने पर भी वे धूप की तरह सुगंध और दीप की तरह सुगंध और दीप की तरह प्रकाश फैलाते हैं। जिस समय क्षेत्र में ऐसे लोग जन्मते हैं, वह भी उनकी गतिविधियों के कारण धन्य बन जाता है॥ ५७-६१॥

मुनयो वयमत्रैवं महत्तापथमाश्रिताः।
प्रतीयमानाश्चाभावैर्ग्रस्ताः अपि निरंतरम्॥ ६२॥
सम्मानास्पदमायाता जनानामत एव तु।
मार्ग एषोऽस्ति वै देवमानवानां सुनिश्चितम्॥ ६३॥
कर्त्तव्यमिदमस्माकं मार्गेऽस्मिन् गंतुमुन्मुखाः।
जनाः सर्वे यथास्युस्ते तथा प्रेर्या निरंतरम्॥ ६४॥
सुखमुत्कर्षजन्यं ते लप्स्यंते वयमप्यलम्।
श्रेयोऽधिकारिणः स्याम बहुमूल्यं यदुच्यते॥ ६५॥

टीका—हे मुनि वर्ग ! हम सब महानता के पथ पर चले हैं। अभावग्रस्त दीखने पर भी जन-जन के सम्मानास्पद बने हैं। देव जनों का यही मार्ग है। हमारा कर्त्तव्य है कि जन-जन को इसी मार्ग पर

चलने की प्रेरणा दें। इससे उन्हें उत्कर्षजन्य सुख मिलेगा और हम श्रेयाधिकारी बनेंगे, जो बहुमूल्य कहा जाता है॥ ६२-६५॥

महामानवसंज्ञानामुत्पादनमिहोदितम्।
उद्यानं कल्पवृक्षाणां स्थापनं पुण्यदं यथा॥ ६६॥
प्रयासेऽस्मिंश्च प्रत्येकदृष्ट्या स्वस्यापि सम्मतम्।
कल्याणं पुरुषैरन्यैः सहैव विश्वमंगलम्॥ ६७॥
स्वीकृतौ संयमस्याथ संतोषस्यापि ते जनाः।
विप्रवृत्तौ च सामर्थ्यमवशिष्यत एव यत्॥ ६८॥
सत्प्रवृत्तिविकासे च पुण्ये च परमार्थके।
नियुञ्जते तु ये तेऽत्र साधवः संस्मृता बुधैः॥ ६९॥

टीका—महामानवों का उत्पादन इस विश्व में कल्पवृक्षों के उद्यान के लगाने जैसा पुण्यफलदायक है। उस प्रयास में हर दृष्टि से, हर किसी का साथ ही अपना भी कल्याण है, जिसे विश्व-कल्याण कहना अधिक उपयुक्त है। संयम एवं संतोष की ब्राह्मण वृत्ति अपनाने के उपरांत जो सामर्थ्य बचती है, उसे सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में लगाने, पुण्य-परमार्थ में नियोजित करने वाले ही साधु कहलाते हैं॥ ६६-६९॥

सतामेव च देशोऽयमस्माकं पथिशोभने।
आत्मकल्याणके पादन्यासोऽस्माभिः कृतोऽत्र च॥ ७०॥
द्वितीयश्चरणोऽयं स्याद्देवमानवनिर्मितौ।
संलग्नाः स्याम एवेह सुखं शांतिरनेन च॥ ७१॥
स्यातां पंथा प्रशस्तः स्यात्प्रगतेरपि संततम्।
समृद्धेश्च नहि न्यूना योगाभ्यासादियं भुवि॥ ७२॥

लोकानां साधनायां च स्वीकृत्योभयथा स्वतः।
प्रयोजनं सुसिद्धं स्यान्निर्बाधं मंगलोन्मुखम् ॥ ७३ ॥

टीका—हमारा देश तो संतों का है ही। आत्मकल्याण के मार्ग पर कदम बढ़ा चुके, अब दूसरा चरण यह उठाना चाहिए कि संसार में देवमानवों के उत्पादन में जुट पड़ें। इसी से संसार की सुख-शांति बढ़ेगी। प्रगति और समृद्धि का पथप्रशस्त होगा। लोक-साधना किसी भी योगाभ्यास से कम नहीं है। इसे अपनाने पर दोहरा प्रयोजन निर्बाध रूप से सधता है। जिसका प्रवाह मंगलोन्मुख होता है ॥ ७०-७३ ॥

पुराणानामृषीणां तां दिव्यां साधुपरंपराम्।
महामानवनिर्माणे रताः स्याम स्वयं तथा ॥ ७४ ॥
प्रव्रज्या तीर्थयात्रायामपि तस्य कृते सदा।
अस्मादेव च लोकेषु पशुवृत्तिभ्य एव ते ॥ ७५ ॥
पैशाचिक कुकृत्येभ्यो विरतिः स्यात्पिशाचता।
क्षीणा स्यात्पशुशोधने महामानवतोदयः ॥ ७६ ॥
तीर्थयात्राऽभिसंबद्धप्रयोजनप्रसंगतः ।
यथा समयमस्माकं गतयो विधयस्तथा ॥ ७७ ॥
वर्द्धिता अधिकं स्युः सा लक्ष्यप्राप्तिर्यतो भवेत्।
यां विना भूतले सत्ययुगस्य स्यान्न संभवः ॥ ७८ ॥

टीका—हम ऋषियों की महान परंपरा अपनाकर महामानवों के उत्पादन में निरत रहें और उसके लिए प्रव्रज्या की तीर्थयात्रा में निरत रहें। इसी से लोगों को पशुप्रवृत्तियों और पैशाचिक उद्दंडताओं से विरत होने का दबाव पड़ेगा। महामानव बढ़ते हैं तो पशु सुधरते और पिशाच दबते हैं। तीर्थयात्रा के प्रयोजन में अब हमारी गतिविधियाँ समय को देखते हुए और भी अधिक बढ़ जानी चाहिए,

ताकि हम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें; क्योंकि बिना पृथ्वी पर सतयुग नहीं आ सकेगा॥ ७४-७८॥

प्रश्नोत्तरेण चानेन तत्रत्यानामभून्महान्।
संतोषस्तु सतां तस्माद् युगधर्मानुरूपतः॥ ७९॥
तीर्थयात्राऽभिसंबद्धां पुण्यां तां च परंपराम्।
सोत्साहं तैर्विधातुं तु निश्चितं समुदायगैः॥ ८०॥
शांतिपाठेन चाऽन्योन्यं वंदनक्रियया समम्।
सत्संगोऽद्य तनस्तत्र समाप्तिं प्रययौ शुभः॥ ८१॥

टीका—इस प्रश्नोत्तरक्रम से सभी उपस्थित संत समुदाय को बड़ा संतोष हुआ। उनने युगधर्म की दृष्टि से तीर्थयात्रा की पुण्यपंरपरा को और भी अधिक उत्साह के साथ चलने का निश्चय किया। शांति पाठ और अभिवंदन की प्रक्रिया के साथ आज का संत समागम विसर्जित हो गया॥ ७९-८१॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री आश्वलायन-ऐतरेय-संवादे 'देवमानव-समीक्षा' इति प्रकरणो नाम ॥ प्रथमोऽध्यायः॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

धर्मविवेचन प्रकरण

द्वितीयस्य दिनस्यात्र संगमे मुनयः समे।
मनीषिणो यथाकालं संगता उत्सुका भृशम्॥ १॥
मौद्गल्यः प्रश्नकर्त्ताऽभूद्दृषिरद्यतनो महान्।
प्रपच्छ भगवन् ह्यस्तु महामानवनिर्मितः॥ २॥
अभिवृद्धिरिह प्रोक्ता महिमाऽस्यास्तथोदिता।
अनिवार्यत्वमत्रैतत् विषये ज्ञातुमस्ति च॥ ३॥

कान् व्रतान् पालयन् मर्त्यो: देवता जायते ध्रुवम्।
महामानव आदेयं तेन किं त्याज्यमत्र च॥ ४॥
विचार्यं किं विधेयं च किं किमेतत्तु विस्तरात्।
उच्यतां येन मर्त्या: स्युर्महामानवतां गता: ॥ ५॥

आश्वलायन उवाच—

मौद्गल्यप्रमुखा मान्या ऋषय: संगतास्त्विह।
सर्वे शृण्वंतु धर्मोऽस्ति केवलं ह्यवलंबनम्॥ ६॥
तथाविधं यदाश्रित्य मानवा: शांतिमाप्नुयु:।
सुखं चापि वसेयुस्ते रक्षिता: सर्वत: स्वत: ॥ ७॥

टीका—दूसरे दिन के संत-समागम में सभी उत्सुक मुनि-मनीषी यथासमय उपस्थित हुए। आज के प्रश्नकर्त्ता मनीषी मौद्गल्य थे। उन्होंने पूछा—हे भगवन् ! कल महामानवों के उत्पादन अभिवर्द्धन की महिमा और आवश्यकता बताई गई थी। उसे सुनकर यह जानने की उत्सुकता बढ़ी है कि किन व्रतों को अपनाने से मनुष्य देवमानव बनता है। उसे क्या छोड़ना पड़ता है और क्या अपनाना होता है ? क्या सोचना और क्या करना पड़ता है ? सो विस्तारपूर्वक कहें, जिससे मनुष्य महामानव बन सकें॥ १-५॥

आश्वलायन जी ने कहा—हे मौद्गल्य ! समेत सभी ऋषि वर्ग आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें। धर्म ही एकमात्र अवलंबन है, जिसका आश्रय लेकर मनुष्य सुख-शांति पाते, सुरक्षित रहते, आगे बढ़ते, और श्रेय पाते हैं॥ ६-७॥

वर्द्धते चाऽधिगच्छंति श्रेय: सर्वविधं सदा।
धर्मो येषां प्रिय: सर्वं जगत् स्निह्यति तेषु च॥ ८॥
बलिष्ठो जायतेऽप्यात्मा कृपा वर्षति च प्रभो:।
व्यक्तो धर्मस्तु येनामुं त्यजंत्येव जना: समे॥ ९॥

स्वीकरोति च धर्मं यो नरः स्वागम्यते नरैः।
धर्मं रक्षति यः साक्षाद्रक्षितः स्वयमेव सः॥ १०॥
विकरोति च धर्मं यो विकृतिं याति स स्वयम्।
महत्त्वस्योपलब्धेर्ये नराः संतीच्छुकास्तु ते॥ ११॥
धारणां धर्मजां सर्वे गृह्णन्वै तथैव च।
धर्मात्मभिः समं स्वं ते कुर्युश्चाचरणं सदा॥ १२॥

टीका—जिन्हें धर्म प्रिय है वे वृद्धि को प्राप्त करते हैं और सब प्रकार के कल्याण को भी। उन्हें समस्त संसार प्यार करता है। उनकी आत्मा बलिष्ठ होती है और ईश्वर का अजस्र अनुग्रह उपलब्ध होता है। इसलिए महानता उपलब्ध करने के इच्छुकों को धर्मधारणा अपनानी चाहिए और अपना आचरण धर्मात्माओं जैसा बनाना चाहिए। जिसने धर्म को छोड़ दिया, उसे सब छोड़ देते हैं। जो धर्म को अपनाता है उसे सब अपनाते हैं, जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी अपनी रक्षा होती है। जो धर्म को हराने का प्रयास करता है, वह स्वयं हार जाता है॥ ८-१२॥

यश्चलेद्धर्ममार्गं च संस्थितोऽप्यत्र भूतले।
स्वर्गस्थैरिव देवैः स श्रेष्ठतां यास्यति स्वयम्॥ १३॥
श्रुत्वा ध्यानेन तत्सर्वं विचार्याऽपि दृढं ततः।
औत्सुक्यात्पुनरेवायं मौद्गल्यायन आह च॥ १४॥

टीका—जो धर्ममार्ग पर चलेगा, वह इस धरती पर रहते हुए भी स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की तरह श्रेष्ठ बनेगा। इस बात को सुनकर तथा विचार कर मौद्गल्य अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुए बोले॥ १३-१४॥

मौद्गल्यायन उवाच—

धर्माः अनेके सत्यत्र संसारे देव तत्र च।
निर्धारणानि भिन्नानि समेषां निर्णयः कथम्॥ १५॥
कर्त्तव्यश्चैषु किं ग्राह्यं त्याज्यं किं पुरुषेण च।
संदेहेऽस्मिन् मतिस्तेन भ्रमतीव निरंतरम्॥ १६॥

टीका—मौद्गल्यायन ने कहा—हे देव ! संसार में अनेकानेक धर्म हैं। सबके निर्धारणों में भिन्नता है। इनमें से किसे अपनाया जाए, किसे नहीं, इसका किस आधार पर निर्णय किया जाए ? इस संदेह में हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है॥ १५-१६॥

आश्वालयन उवाच—

एक एव तु धर्मोऽस्ति भद्रा निर्धार्यतामिदम्।
सर्वेभ्यश्च समानः स कर्त्तव्यं व्यक्तिगं च तत्॥ १७॥
सामाजिकं च दायित्वं मंतव्यं पुरुषैरिह।
औत्सुक्यं चिंतनस्यैवं शालीन्यं व्यवहारगम्॥ १८॥
चरित्रादर्शवादित्वं त्रयमेतत्समन्वितम्।
उच्यते धर्म इत्येवमृषिभिर्दिव्यदृष्टिभिः॥ १९॥

टीका—आश्वालयन ने कहा—भद्र ! धर्म एक ही है। वह सब मनुष्यों के लिए एक जैसा है। उसे व्यक्तिगत कर्त्तव्य और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह समझा जाना चाहिए। दिव्यदृष्टि संपन्न ऋषि-चिंतन की उत्कृष्टता, चरित्र की आदर्शवादिता और व्यवहार की शालीनता के समन्वय को धर्म कहते हैं॥ १७-१९॥

त्रिवेणी संगमं चैनमवगाहंत एव ये।
कायाकल्पमिवात्रैते लाभं विन्दंति मानवाः॥ २०॥

ते मानवशरीरस्था देवा इव सदैव च।
श्रेयः सम्मानमित्यर्थं विंदन्त्यानंदमुत्तमम्॥ २१॥
भूय एव वदाम्येतद् धर्म एक इहोदितः।
समानश्चापि सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः स वर्तते॥ २२॥

टीका—इस त्रिवेणी संगम का अवगाहन करने वाले कायाकल्प जैसा लाभ अर्जित करते हैं। उन्हें मनुष्य शरीर में रहते हुए भी देवताओं जैसा श्रेय, सम्मान और आनंद मिलता है। मैं फिर कहता हूँ कि धर्म अनेक नहीं, एक है। वह सभी मनुष्यमात्र के लिए एक जैसा है॥ २०-२२॥

वर्तते शाश्वतो देवविहितः स सनातनः।
सुयोजितः स मर्त्यस्य नूनमत्रांतरात्मनि॥ २३॥
प्रियानुभूतिर्धर्मः स आत्मनो विद्यते तथा।
जगन्मंगलमूलश्च निर्णयः परमात्मनः॥ २४॥
एकः सः स्वयमेवापि पूर्णः एव च विद्यते।
खंडशो भवितुं नैव सोऽर्हतीत्येव चिंत्यताम्॥ २५॥
कालानुसारं क्षेत्राणामनुसारमपीह च।
वर्गानुसारं वा धर्मपारम्पर्यमनेकधा॥ २६॥
दृश्यते यत्र धर्मः स संप्रदायो मतोऽथवा।
पक्ष एव मतः साक्षान्मर्त्यभेदकरोऽशुभः॥ २७॥

टीका—वह शाश्वत, सनातन और ईश्वरकृत है। उसे मनुष्य की अंतरात्मा में सँजोया गया है। वस्तुतः धर्म तो आत्मा की पुकार है, ईश्वर का निर्णय है और विश्वकल्याण का वास्तविक कारण है। वह एक और अपने में समग्र है। उसके खंड नहीं हो सकते हैं, यह दृढ़ता

से समझ लो। क्षेत्र, समय, वर्ग के आधार पर जो धर्मपरंपराएँ चलती हैं वे संप्रदाय कहलाती हैं। मत, पक्ष तो अनेक हैं॥ २३-२७॥

स्वसमाजानिवार्याणि वीक्ष्याभीष्टानि तत्र ते।
मूर्द्धन्याः पुरुषास्तेषामाविर्भावं व्यधुः पृथक्॥ २८॥
कालेन सह चैतेषु परिवर्तनमप्यलम्।
जायते तत्र तत्रैव संप्रदायेषु तद्यतः॥ २९॥
परिष्कारकरामर्त्या महामानवसंज्ञकाः।
उत्पद्यंते प्रकुर्वंति जीर्णोद्धारमिवास्य ते॥ ३०॥
यत्र यत्रानिवार्यः स्याद् वीक्ष्य तेषु च विक्रियाम्।
वस्त्रगेहेष्विवायांति संप्रदायेषु विक्रियाः॥ ३१॥
जीर्णोद्धारश्चलत्येषां स्वच्छताऽपि तथैव च।
समाजस्योपयोगाय तदैवार्हन्ति वस्तुतः॥ ३२॥

टीका—अपने-अपने समाज की आवश्यकता देखते हुए मूर्द्धन्य जनों ने उनका आविर्भाव एवं प्रचलन किया है। समय बदलने के साथ-साथ उनमें हेर-फेर और सुधार-परिवर्तन होता रहता है। हर धर्मसंप्रदाय में सुधारक उत्पन्न होते रहते हैं, जो जब जहाँ टूट-फूट और विकृति दीखती है, तब उसकी मरम्मत करते रहते हैं। वस्त्रों और मकानों की तरह संप्रदाय में भी विकृतियाँ प्रवेश करती हैं और उनकी सफाई मरम्मत चलती रहती है। तभी वास्तव में ये समाज के उपयोगी हो सकते हैं॥ २८-३२॥

संप्रदायस्य धर्मस्य भेदोऽस्माभिस्तु पूर्णतः।
ज्ञेय उद्गम एतेषामेक इत्यनुभूयताम्॥ ३३॥
एकस्यैव समुद्रस्य लहर्यस्ताः सुविस्तृताः।
सूर्यस्यैकस्य विद्यंते किरणास्ते समेऽपि च॥ ३४॥

मेघवर्षोदिता नद्यो निर्झरा इव ते समे।
तत्प्रवाहोऽभियात्यत्र जलधेर्दिशि संततम् ॥ ३५ ॥

टीका—हमें संप्रदाय और धर्म का अंतर समझना चाहिए। साथ ही यह भी अनुभव करना चाहिए कि उन सब का उद्गम एक है। वे एक ही समुद्र की अनेकानेक आकार-विस्तार वाली लहरें हैं। एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं। मेघ-वर्षा की एक ही प्रक्रिया से वे नदी-निर्झरों की तरह जन्मे हैं और उन सबका प्रवाह समुद्र में जा मिलने की दिशा में समान रूप से प्रवाहित हो रहा है ॥ ३३-३५ ॥

मौद्गल्यायन उवाच—

भवतः कृपया ज्ञातं महाप्राज्ञ ! समैरपि।
अस्माभिर्धर्म आधारो महामानवनिर्मितौ ॥ ३६ ॥
स्पष्टं जातं च धर्मोऽस्ति व्यक्तिकर्त्तव्यगस्तथा।
समाजोत्तरदायित्वस्थित आदर्शनिर्वहः ॥ ३७ ॥
बोध्यतां लक्षणान्यत्र यान्यादाय तु साधकः ।
तत्तद् धर्मादिनिष्ठोऽपि महतां जीवनेऽर्जयेत् ॥ ३८ ॥

टीका—मौद्गल्य जी ने कहा—हे महाप्राज्ञ ! आपकी कृपा से हमने समझा कि महामानव बनने में धर्म का आधार बनता है। यह भी स्पष्ट हुआ कि धर्म व्यक्तिगत कर्त्तव्यों और सामाजिक उत्तरदायित्वों के आदर्शनिष्ठ निर्वाह को कहते हैं। कृपया यह और स्पष्ट करें, कि वे कौन से लक्षण हैं, जिन्हें किसी भी धर्मसंप्रदाय का साधक जीवन में अपनाकर महानता अर्जित कर सकता है ॥ ३६-३८ ॥

आश्वलायन उवाच—

लक्षणानि दशैवाऽस्य धर्मस्योक्तानि मूर्धगैः।
युग्मपञ्चकरूपे च ज्ञातुं शक्या नरैस्तु ते ॥ ३९ ॥

प्रथमे सत्यमेतत्तु विवेकश्चापरे पुनः ।
कर्त्तव्यं संयमस्तत्र तृतीये त्वनुशासनम् ॥ ४० ॥
व्रतधारणमेतस्मिंश्चतुर्थे च पराक्रमः ।
स्नेहसौजन्यमेवापि पञ्चमे सहकारिता ॥ ४१ ॥
परमार्थश्च गणितुं स शक्यः शक्या दशैव च ।
प्रहरित्वेन ते मर्त्यगरिम्णो गदितुं भृशम् ॥ ४२ ॥

टीका—आश्वलायन ने कहा—मूर्द्धन्यों ने धर्म के दस प्रधान लक्षण बतलाए हैं। इन्हें पाँच युग्मों में भी जाना जाता है। प्रथम युग्म में आते हैं—सत्य और विवेक। द्वितीय में संयम और कर्त्तव्य। तृतीय में अनुशासन और व्रत धारण। चतुर्थ में स्नेह, सौजन्य और पराक्रम तथा पंचम में सहकार और परमार्थ को गिना जा सकता है। इन दसों को मानवी गरिमा के प्रहरी दस दिक्पाल कहा जा सकता है ॥ ३९-४२ ॥

धर्मस्यैषां दशानां तु लक्षणानां हि विवृतिः ।
समन्वितेऽथ संक्षेपे वक्तुं पञ्चापि संभवाः ॥ ४३ ॥
योगशास्त्र इमान्येव प्रकारान्तरतो बुधैः ।
यमादि नामतस्तत्र प्रोक्तान्यात्मशुभान्यलम् ॥ ४४ ॥
स्वीकृत्येमानि सिद्ध्येत्स संयमस्त्विंद्रियोदितः ।
पञ्चानामपि तेषां च प्राणानां सिद्ध्यति स्वयम् ।
उपप्राणैः सहैवात्र विद्या पञ्चाग्नि शब्दिता ॥ ४५ ॥

टीका—इन धर्म के दस लक्षणों की व्याख्या संक्षेप में और समन्वित रूप में करनी हो तो उन्हें पाँच युग्म के रूप में भी माना जा सकता है। योगशास्त्र में इन्हीं को प्रकारांतर से पाँच यम और पाँच नियम कहा गया है, जो आत्मकल्याणकारी माने गए हैं। इन्हें अपनाने

से पाँच जननेंद्रियों और पाँच कर्मेंद्रियों का संयम सधता है। इन्हें अपनाने के बाद ही पाँच प्राणों, पाँच उपप्राणों की पंचाग्नि विद्या संपन्न होती है॥ ४३-४५॥

योगिनश्चैतदाश्रित्य कुर्वतेऽनावृतान् समान्।
पञ्चकोषान् सिद्धयस्ता ऋद्धयश्चैभिरेव तु॥ ४६॥
संगताः संति चैतानि योगान् पंचविधांस्तथा।
साधितुं तानि पञ्चैव तपांस्यर्हन्ति च क्रमात्॥ ४७॥

टीका—योगी जन इन्हीं को अपनाकर पाँच कोशों का अनावरण करते हैं। पाँच ऋद्धियाँ और पाँच सिद्धियाँ इन्हीं पाँच गुणों के साथ जुड़ी हैं। यही पाँच योग और पाँच तप साधने की आवश्यकता पूर्ण करते हैं॥ ४६-४७॥

शिवस्याप्यथ रामस्य पञ्चायतनमुत्तमम्।
बोधयंतीदमेते च वराप्ताः पाण्डुपुत्रकाः॥ ४८॥
पञ्चगव्यं पापनाशि पुण्यं पञ्चामृतं तथा।
इमान्येव यतस्ते द्वे चैतेषां पोषके ध्रुवम्॥ ४९॥

टीका—इन्हीं को गीता के पाँच पांडव, राम पंचायतन और शिव पंचायतन समझा जा सकता है। पापनाशक पंचगव्य और पुण्य-संवर्द्धक पंचामृत भी इन्हीं को मानना चाहिए, क्योंकि वह इनके पोषक हैं॥ ४८-४९॥

पञ्चैव धर्मपुण्यानि जीवने व्यावहारिके।
व्यवहर्त्तुं परः प्रोक्तः पुरुषार्थो मनीषिभिः॥ ५०॥
एतानि पालयंत्यत्र जना ये प्रेरयंत्यपि।
पालितुं साधनान्येव वार्जयंति तथा शुभाम्॥ ५१॥

वातावृतिं विनिर्मान्ति श्रेयो गच्छंति ते जनाः।
लोकेऽथ परलोकेऽपि कृतकृत्या भवन्त्यलम्॥ ५२॥

टीका—इन पाँच धर्मपुण्यों को जीवन में उतारना मनीषियों द्वारा परम पुरुषार्थ माना गया है। जो इन्हें पालते हैं, पालने की प्रेरणा देते हैं, साधन जुटाते और वातावरण बनाते हैं, वे लोक और परलोक में श्रेय पाते तथा हर दृष्टि से कृतकृत्य हो जाते हैं॥ ५०-५२॥

मौद्गल्य उवाच—

कृतकृत्या वयं देव ! श्रुत्वा धर्मस्य लक्षणम्।
भवतः मूलभूतं तज्जीवनं सर्वदेहिनाम्॥ ५३॥
प्रत्यक्षे जीवने किंतु धर्मस्यार्थास्तु स्वेच्छया।
प्रयोगाश्च कृताः कैश्चिन्मूलाधारातिदूरगाः॥ ५४॥
स्थितावेवं-विधायां च महत्तोपार्जनादिषु।
धर्मधारोपयोगः स कथमत्र तु संभवेत्॥ ५५॥

टीका—मौदगल्य जी बोले—हे देव ! अपने धर्म के मूलभूत लक्षण जो प्राणिमात्र का जीवन है, समझकर हम कृतकृत्य हुए हैं, किंतु प्रत्यक्ष जीवन में धर्म के मनमाने अर्थ प्रयोग किए गए हैं, जो इन मूलाधारों से बहुत दूर हो गए हैं। ऐसी स्थिति में महानता के उपार्जन में धर्मधारणा का उपयोग कैसे संभव है? ५३-५५॥

आश्वलायन उवाच—

धर्मध्वजनि एवं च समाश्रित्य व्यधुर्बहुम्।
अनाचारमपि स्वार्थधियाऽनर्थानपि व्यधुः॥ ५६॥

टीका—आश्वलायन जी बोले—लोगों ने धर्म की आड़ में अनाचार भी बरते हैं। उसके चित्र-विचित्र अर्थ भी लगाए हैं॥ ५६॥

ततोऽपि मूले धर्मस्य भेदो नैवोपजायते।
मेघाक्रांतो ग्रहाक्रांतो भवत्येव दिवाकरः॥ ५७॥
तथापि सत्ता नैवास्य तस्मात्स्वल्पं विकंपते।
गंगायां प्रपतंत्यत्र मलिनानि जलान्यपि॥ ५८॥
जलचरादिकजीवानां विष्ठादेरपि जाह्नवी।
पवित्रतां निजां नैव जहात्येषाऽन्यपावनी॥ ५९॥
आरोहंति च कीटास्ते प्रतिमां परमात्मनः।
न्यूनतां गौरवं नैव प्रयात्यस्यास्ततोऽपि च॥ ६०॥
धर्मच्छायाश्रिता नूनमनाचाराः सदैव च।
संशोध्याः परमेतेन महत्तायामथापि च॥ ६१॥
उपयोगेऽपि धर्मस्य संदेहः क्रियतां नहि।
महामानवतां यांति धर्मात्मानो नरास्त्विह॥ ६२॥

टीका—तो भी इससे धर्म के मूलस्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। सूर्य पर बादल छाते और ग्रहण पड़ते रहते हैं तो भी उसकी सत्ता स्वल्पमात्र भी विकंपित नहीं होती। गंगा के प्रवाह में अनेकों गंदे स्रोतों से जल आकर उसमें मिलता रहता है तथा जलचर आदि जीवधारी भी उसमें गंदगी करते रहते हैं तो भी उसकी पवित्रता में कोई अंतर नहीं आता; क्योंकि उसमें स्वतः अन्यों को पवित्र करने की शक्ति है। देवप्रतिमा पर कृमि-कीटक भी चढ़ जाते हैं, पर इससे उनकी गरिमा कम नहीं होती। धर्म की आड़ में चलने वाले अनाचार को सुधारा, बदला जाना चाहिए, पर उसकी महत्ता एवं उपयोगिता के संबंध में कोई संदेह नहीं करना चाहिए। धर्मपरायण ही महामानव बनते हैं॥ ५७-६२॥

ग्राह्या धर्मधृतिर्नूनं महामानवतां गतैः।
पराभवति चाधर्मो विपुलं वैभवं तथा॥ ६३॥

प्राक्रमश्च नात्यर्थं तिष्ठतीति रिरक्षया।
उच्छलन्नपि नश्येत्स जलबुद्बुदतां गतः॥ ६४॥
इन्धमानीव लोकेऽस्मिञ्ज्वलन्त्यपि च तत्क्षणात्।
भस्मतां यांति स्वल्पेन कालेनैते सदैव च॥ ६५॥

टीका—महामानवों को अनिवार्यतः धर्मधारणा अपनानी होती है। अधर्मी का पराभव होता है। उसका विपुल, वैभव और पराक्रम भी उसकी रक्षा में देर तक नहीं टिकता। पानी में उठने वाले बबूले की तरह क्षण भर की उछल-कूद के उपरांत उसका अंत होते देखा जाता है। अधर्मी क्षण भर ईंधन की तरह जलते-उबलते दीखते हैं, पर उनके राख बनकर समाप्त होने में भी विलंब नहीं लगता॥ ६३-६५॥

व्यवस्था जगतश्चैषा कर्मणः फलमाश्रिता।
चलत्यत्र तरोर्जन्मप्रौढता मध्यगो महान्॥ ६६॥
कालो विलंबरूपोऽयं व्यत्येत्येवं सुकर्मणाम्।
परिणामस्य प्राप्तौ स विलंबः संभवत्यलम्॥ ६७॥
करका इव वर्षंति दुर्जनाः पीडयंति च।
मर्यादां सकलां धान्यसंपदामिव सर्वदा॥ ६८॥
ते स्वयं नष्टतां यांति द्रवीभूताः परं क्षुपाः।
प्ररोहंति पुनस्ते तु कथञ्चित्समये गते॥ ६९॥
विलम्बं वीक्ष्य गच्छेन्न भ्रमं कर्मफले नरः।
हताशेन न भाव्यं च शुभमार्गानुयायिना॥ ७०॥

टीका—कर्मफल की सुनिश्चितता के आधार पर ही यह विश्व व्यवस्था चल रही है। वृक्ष को उगने से लेकर प्रौढ़ होने में देर लगती है। सत्कर्मों के सत्परिणाम मिलने में देर हो सकती है। इसी प्रकार दुर्जनों को ओलों की तरह बरसते और मर्यादाओं की फसल नष्ट

करते देखा जाता है, पर ओले गलकर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, परंतु उनके कारण टूटे हुए पौधे कुछ समय बाद फिर नए सिरे से पल्लवित होते देखे गए हैं। कर्मफलों में विलंब लगते देखकर सन्मार्ग में प्रवृत्त किसी को भी न भ्रम में पड़ना चाहिए और न हताश होना चाहिए॥ ६६-७०॥

धर्मधारणया मर्त्या जायंत उन्नतास्तथा।
महामानवतां तस्मादधिगच्छंति चांततः॥ ७१॥
केवलं धर्मचर्चां ते श्रुत्वाऽधीत्याऽपि वा पुनः।
संतुष्टा नैव जायंते कृतां वा धार्मिकीं क्रियाम्॥ ७२॥
पर्याप्तं न विजानंति परं तत्रानुशासनम्।
विद्यते यद् विगृह्णन्ति तदैवैते स्वतस्तथा॥ ७३॥
नैवालस्यं प्रमादं वा भजंते ते मनागपि।
निर्धारणानि कर्तुं च व्यवहारान्वितानि तु॥ ७४॥
ईदृशा एव मर्त्यास्तु महामानवतामिह।
अञ्जसाऽऽसाद्य सार्थक्यं नयन्त्यत्र स्वजीवनम्॥ ७५॥

टीका—धर्मधारणा अपनाकर मनुष्य ऊँचे उठते आगे बढ़ते और महामानव कहलाते हैं। वे मात्र धर्मचर्चा सुनने-पढ़ने से संतुष्ट नहीं होते और न धर्मानुष्ठानों के क्रिया-कृत्य को ही पर्याप्त मानते हैं, वरन उसके जुड़े हुए अनुशासन को अपनाते और निर्धारणों को क्रियान्वित करने में आलस्य-प्रमाद नहीं बरतते। ऐसे लोग सहज ही महामानव बनने की जीवन सार्थकता उपलब्ध करते हैं॥ ७१-७५॥

निर्मातव्यं जगत्सर्वं महामानवरूपिभिः।
कल्पवृक्षैः सुपूर्णं तन्नन्दनं वनमुत्तमम्॥ ७६॥

साधु विप्रस्तरा देवपुरुषा निर्वहंतु च।
उपार्जनस्य दायित्वमेतन्मर्त्यशुभावहम् ॥ ७७ ॥
एतदर्थं व्यवस्थास्यात्स्वाध्यायस्याथ संततम्।
सत्संगस्य तथा सेवासाधनासंयमादिकाः ॥ ७८ ॥
क्रियान्विता भवन्त्यत्र सत्प्रवृत्तय एव च।
धर्मस्यात्रमहत्त्वं च बोध्यं बोध्याः परेऽपि च ॥ ७९ ॥
परिणतीस्तस्य प्रत्यक्षास्तथ्यतर्कप्रमाणकैः।
शक्याः कर्तुं प्रबुद्धैश्चेन्नराणां हृदयंगमाः ॥ ८० ॥

टीका—संसार को महामानवों के कल्पवृक्षों से हराभरा नंदनवन बनाया जाना चाहिए। इस उपार्जन का मंगलमय उत्तरदायित्व साधु-ब्राह्मण स्तर के देवपुरुषों को उठाते रहना चाहिए। इसके लिए स्वाध्याय और सत्संग की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए। साधना, संयम और सेवा की सत्प्रवृत्तियों की नियमित रूप से कार्यान्वित होते रहना चाहिए। धर्म का महत्त्व समझा और समझाया जाना चाहिए। उसके प्रत्यक्ष परिणामों के आधार पर हृदयगंम कराया जा सके तो उसे सहज ही लोग अपनाने लगेंगे ॥ ७६-८० ॥

अञ्जसैव तदा धर्ममनुयास्यंति तं जनाः।
धर्मात्मानः स्वमाचारं प्रस्तुवंतु नृसम्मुखे ॥ ८१ ॥
उत्तमं चेज्जनाः सर्वेऽप्यनुयास्यंति तं सदा।
आचरंति च यच्छ्रेष्ठाः सामान्या अनुयांति तम् ॥ ८२ ॥

टीका—धर्मात्मा अपना आचरण उदाहरण लोगों के सम्मुख रखें तो लोग उसका अनुकरण करने लगेंगे। प्रतिभाशाली जो करते हैं, उसी का अनुकरण अनुगमन होने लगता है ॥ ८१-८२ ॥

धार्मिका धर्ममाख्यांतु परं तेन सहैव च।
आचरंतोऽपि निष्ठां स्वामादर्शे प्रस्तुवन्तु च॥ ८३॥
आचरंति जना एवं येऽपि ते वस्तुतः समे।
धर्ममुत्तमरीत्याऽत्र सेवंते सत्यसंश्रयाः॥ ८४॥
लभंते पुण्येमेतेऽत्र जना धर्मप्रचारगम्।
तस्य सेवाविधेश्चापि साधनाया उताऽपि च॥ ८५॥
धर्मस्य चर्चया किञ्चित्सिद्धयेन्नैव प्रयोजनम्।
वाचालयोपदेशस्य भाररूपतया भुवि॥ ८६॥

टीका—धर्मप्रेमी, धर्म का बखान-विवेचन भी करें, किंतु साथ-साथ उसका आचरण करते हुए आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा का प्रमाण परिचय भी प्रस्तुत करें। जो ऐसा करते हैं, वे धर्म की सच्ची सेवा करते हैं। धर्मप्रसार की महती सेवा-साधना का पुण्य और श्रेय ऐसों को ही मिलता है। धर्म की चर्चा करने मात्र से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। वाचलतापूर्ण उपदेश भार रूप ही होते हैं॥ ८३-८६॥

कर्मणो वचनस्यात्र भिन्नत्वादुपहास्यताम्।
उपदेष्टा व्रजत्यत्राऽविश्वासो वर्द्धतेऽपि च॥ ८७॥
महामानवतां यातुं धर्मस्याचरणं तथा।
धर्मविस्तरजं कार्यविधिं चोभयपक्षगम्॥ ८८॥
श्रुत्वाऽस्य स्वीकृतेर्दिव्यः परामर्शः सुखावहः।
श्रोतृणां तत्र सोऽभूच्च भविष्यत्समये समैः॥ ८९॥
अत्र कार्यविधौ ध्यानं दातुं चाऽधिकमेव तु।
निश्चितं स्वप्रयासे च क्रमो नव्यः सुयोजितः॥ ९०॥

आरण्यकं स्वकं दिव्यं सर्वे स्थापयितुं तथा।
प्रयोजनमिदं कृत्वा तीर्थयात्राऽभिनिर्गमे ॥ ९१ ॥
उपक्रमाय सोत्साहं योजना विस्तृता निजे।
चित्ते निर्मातुमारब्धा व्यधुः स्फुरितचेतनाः ॥ ९२ ॥

टीका—वचन और क्रम की भिन्नता रखने पर उपहास होता है, अविश्वास बढ़ता है। महामानव बनने के लिए धर्माचरण और धर्मविस्तार की उभयपक्षीय कार्यविधि अपनाने का परामर्श सभी श्रोता जनों को बहुत सुहाया। उनने भविष्य में इस ओर अधिकाधिक ध्यान देने और प्रयास करने का निश्चय किया। इस संबंध में अब तक के अपने प्रयास में नई तत्परता के समावेश का नया कार्यक्रम बनाया। वे आरण्यक चलने और तीर्थयात्रा पर इस प्रयोजन के लिए निकलने की उत्साहपूर्वक तैयारी के लिए सुविस्तृत योजनाएँ अपने-अपने मन में बनाने लगे; क्योंकि उनकी चेतना जग गई थी॥ ८७-९२॥

समये च समाप्तेऽयं सत्संगोऽद्यतनस्ततः।
वातावृतौ शुभोत्साहपूर्णायां विधिपूर्वकम्॥ ९३ ॥
समाप्तस्तेऽन्वभवन् सर्वे महामानवतैव च।
लब्धव्या पुरुषैरेवं भवेत्स्वर्गः स्वयं धरा॥ ९४॥

टीका—समय समाप्त होने पर आज का सत्संग उत्साह भरे वातावरण में विधिवत् समाप्त हो गया। सभी ने अनुभव किया कि महामानव बनना मनुष्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, उसी से पृथ्वी स्वयं स्वर्ग बन जाएगी॥ ९३-९४॥

इति श्रीमत्प्रज्ञापनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री आश्वलायन-मौद्गल्य ऋषिसंवादे 'धर्मविवेचन' इति प्रकरणो नाम ॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

सत्य-विवेक प्रकरण

दिनं तृतीयमद्याभूत्सत्संगस्य यथाविधि।
यथापूर्वं शुभोत्साहयुक्तवातावृतौ पुनः ॥ १ ॥
गोष्ठ्या अद्यतनायाश्च शुभारंभो ह्यभूदयम्।
आप्तुममृतवर्षां तु उत्सुकाः सर्व एव हि॥ २ ॥
कौण्डिन्यः प्रश्नकर्त्ता स पप्रच्छाद्यतनो मुनिः।
पूर्वोक्तानां तु युग्मानां विषये बुद्धिमत्तमः॥ ३ ॥

टीका—संत समागम का आज तीसरा दिन था। नित्य की भाँति उत्साह भरे वातावरण में आज की ज्ञानगोष्ठी का शुभारंभ फिर हुआ। सभी इस अमृतवर्षा को अधिक अपना लेने के लिए उत्सुक हो रहे थे। आज के प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान कौंडिन्य मुनि के पूर्वोक्त युग्मों के संबंध में पूछा॥ १-३ ॥

कौंडिन्य उवाच—

संगतिः काऽनयोरत्र देव ! सत्यविवेकयोः।
तयोर्युग्मेन धर्मस्य पञ्चमस्य कथं शुभा॥ ४ ॥
क्रियते चरणस्यैषा पूर्तिरेतद् विविच्यताम्।
भवता विस्तराद् येन धर्मरूपं नरो व्रजेत्॥ ५ ॥

टीका—कौंडिन्य बोले—हे देव ! सत्य और विवेक की परस्पर क्या संगति है ? उन दोनों का युग्म किस प्रकार धर्म के पाँच चरणों में से एक की पूर्ति करता है, सो उसका विस्तारपूर्वक विवेचन करें, जिससे धर्म का रूप मनुष्य समझ सकें॥ ४-५ ॥

आश्वलायन उवाच—

सत्यस्यार्थस्तु श्रेयोऽस्ति यदाचारे निगूहितम्।
तिष्ठति, भ्रमस्वार्थौ तौ स दुराग्रह एव च॥ ६॥
स्वरूपं नोत्सहंते ते प्रत्यक्षं तस्य निर्गतम्।
भित्वा चावरणं गन्तुं याथार्थ्यं दूरदर्शिनः॥ ७॥
वैपरीत्येन वाप्येतत्सत्यमास्ते तिरोहितम्।
मान्यतानां विभिन्नानां पारंपर्यस्य कारणैः॥ ८॥
भिन्नस्याज्ञानहेतोश्च सत्यं भिन्नं प्रभासते।
अतो विवेकपूर्वं च गहनं परिचीयते॥ ९॥

टीका—आश्वलायन ने कहा—सत्य का अर्थ श्रेय। वह आवरणों से ढका रहता है। भ्रम, स्वार्थ और आग्रह उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट नहीं होने देते। दूरदर्शिता से इन आवरणों को वेधकर यथार्थता तक पहुँचने की आवश्यकता पड़ती है। विभिन्न स्तरों की मान्यताओं, परंपराओं के कारण सत्य आवरणों में छिपा होता है। अज्ञान के कारण भी कुछ-से-कुछ भासता है, इसलिए विवेकपूर्वक गहराई में उतरना पड़ता है॥ ६-९॥

सत्यभागं वचः सत्यं मन्यते यादृशं श्रुतम्।
दृष्टं वा विद्यते यच्च कर्त्तव्यं तद्विना छलम्॥ १०॥
यथार्थतोऽस्य प्राकट्यं सत्यमत्राभिधीयते।
सीमामिमां समुल्लंघ्य यान्त्यग्रे तत्त्वदर्शिनः॥ ११॥
सत्यं यथार्थतैवेति श्रेयो भावत्वमेव च।
सद्भावभरितश्रेयः साधनायै च कर्म यत्॥ १२॥
कथितं च वचः सत्यं विद्यते तत्परं भवेत्।
बालबोधाय च प्रोक्तमलंकारधियाऽपि वा॥ १३॥

टीका—सत्य वचन को सत्य का एक अंग मानते हैं। जैसा सुना-देखा या किया जाता है, उसे बिना छल किए यथार्थ रूप में प्रकट कर देना सत्य का मोटा स्वरूप है, पर तत्त्वदशी लोग इस परिधि से आगे जाते हैं कि यथार्थता ही सत्य है। श्रेय भावना सत्य है। सद्भावनापूर्ण श्रेय-साधना के लिए किए गए कृत्य और कहे गए वचन भी सत्य हैं। भले ही उन्हें बालबोध के लिए आलंकारिक ढंग से हेर-फेर करके भी कहा गया हो॥ १०-१३॥

संबद्धताऽनयोरस्ति मुने सत्यविवेकयोः ।
परस्परं भवेदेको यत्र तत्रैव चापरः ॥ १४॥
विवेकेनैव सत्यस्य स्वरूपं ज्ञायते तथा।
तदाश्रित्यैव सत्यस्य प्राप्त्यै च प्रक्रमेन्नरः॥ १५॥
ग्रस्तः पूर्वाग्रहैर्मर्त्यो भवत्येव स्वभावतः।
पारंपर्यस्य वंशस्य वातावरणकस्य च ॥ १६॥
संस्काराणां च हेतोस्ता मान्यतास्तस्य व्यक्तिगाः।
स्वभावं यांति ता एव सर्वस्वं मन्यते च सः ॥ १७॥

टीका—सत्य और विवेक परस्पर जुड़े हुए हैं। जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा भी रहेगा। विवेक से सत्य का स्वरूप समझा और उसके सहारे सत्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ा जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही पूर्वाग्रहों से ग्रसित होता है। वंश-परंपरा, वातावरण और संचित कुसंस्कारों के कारण उसकी कुछ अपनी मान्यताएँ और आदतें बन जाती हैं। वह उन्हीं को सब कुछ मान लेता है॥ १४-१७॥

प्रतिपादनमन्येषां तथा तेऽनुभवा अपि।
अयोग्या हि प्रतीयंते तेन चाग्रहिणो नराः॥ १८॥

सत्यं स्वमान्यतां यावन्मन्यते सीमितं परम्।
अपेक्ष्याऽन्योक्तिव्याख्यैव ज्ञातुं रूपं च तस्य तु॥ १९॥
विवेकिनो भवन्त्येव न्यायाधीशा इव स्वतः।
निष्पक्षा आग्रहैर्हीना औचित्याश्रयिणोऽभयाः॥ २०॥
स्वीकारे च त्रुटेः स्वस्या संकोचं नाश्रयंति ते।
नाग्रहश्च समग्रस्य स्वस्य तेषां मतस्य च॥ २१॥

टीका—ऐसे व्यक्ति को दूसरों के प्रतिपादन और अनुभव गलत प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में आग्रही मनुष्य अपनी ही मान्यता तक सत्य को सीमित मानता है; जबकि उसका समग्र स्वरूप जानने के लिए अन्यान्य कथनों पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। विवेकशील न्यायधीश की तरह निष्पक्ष होते हैं, आग्रही नहीं होते। जहाँ जितना औचित्य परिलक्षित होता है, उसे बिना संकोच के स्वीकार करते हैं। ऐसे लोगों को न भूल मानने में संकोच होता है और न अपने मत के समग्र होने का ही आग्रह होता है॥ १८-२१॥

यथार्थं च परिज्ञातुं तर्कं तथ्यं प्रमाणकम्।
अन्वेष्टुमुभयोः पक्षे विचारः कर्तुमिष्यते॥ २२॥
तदैव शक्यते ज्ञातुं विद्यते का यथार्थता।
प्रयुञ्जते बुद्धिमेनां न्यायाधीशा विशेषतः॥ २३॥
शृण्वंत्युभयवार्तां ते पक्षयोः कुर्वते तथा।
यत्नं तथ्यं तल्लब्धुमावेशेऽज्ञानतोऽपि वा॥ २४॥
बलादपि च यत्प्रोक्तं पक्षपात धिया नहि।
तत्र ध्यानं प्रकुर्वंति तत्त्वजिज्ञासवः क्वचित्॥ २५॥
गृह्यते नीतिरेषैव यदा तर्हि तु संभवम्।
यथार्थता परिज्ञानं सत्यं द्रष्टुं च वस्तुतः॥ २६॥

टीका—यथार्थता को जानने के लिए तर्क, तथ्य और प्रमाण ढूँढ़ने का उभयपक्षीय प्रतिवेदन पर विचार करना पड़ता है। तब कहीं पता चलता है कि यथार्थता क्या है? न्यायाधीश इसी बुद्धि का प्रयोग करते हैं। दोनों पक्षों की बात सुनते हैं। तथ्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। आवेश या अज्ञान में तथा बलपूर्वक पक्षपात के कारण जो कहा गया है, तत्त्वजिज्ञासु उस पर ध्यान नहीं देते। यही नीति अपनाने पर यथार्थता समझ सकना संभव होता है और सत्य के दर्शन होते हैं॥ २२-२६॥

कौंडिन्य उवाच—

दृश्यते प्राय एवात्र महाभाग! बुधा अपि।
हानिलाभस्थितिज्ञा न हितं चिन्वन्ति दूरगम्॥ २७॥
कुर्वते भ्रमतश्चात्र निर्णयं विपरीतगम्।
कथमेतद् भवत्यस्माद् विवेकी रक्ष्यतां कथम्॥ २८॥

टीका—कौंडिन्य ने कहा—हे महाभाग! देखा गया है कि अपना हानि-लाभ पहचानने वाले समझदार व्यक्ति भी दूरगामी हितों को नहीं पहचान पाते, भ्रम में गलत निर्णय ले बैठते हैं, ऐसा क्यों होता है? और ऐसी भूलों से विवेकवान का बचाव कैसे होता है? ॥ २७-२८॥

आश्वलायन उवाच—

दूरदर्शित्वभावोऽपि विवेकस्यार्थतां गतः।
न च वस्तुपरिज्ञानमात्रं तस्यार्थं इष्यते॥ २९॥
विवेकबुद्धिरादत्ते परिणामान् सुदूरगान्।
प्रारंभे हानिमादाय भविष्यत्यधिको यदि॥ ३०॥
लाभः समर्थनं तस्य कर्मणः कुरुतेऽत्र च।
लाभदानि प्रतीयंते कार्याण्यादौ झटित्यलम्॥ ३१॥

दुःखदानि तथांते च जायंते कानिचित्तथा।
आदौ कष्टप्रदायंते सुखदानि भवंति च॥ ३२॥
एतादृश-प्रसंगेषु भ्रांतिग्रस्ता भवंति ते।
अदूरदर्शिनो ये तु लाभं पश्यंति चादिमम्॥ ३३॥
तदर्थं महतीं हानिं भविष्यत्कालजां त्विमे।
प्राप्नुवंति नरा येनाभ्युदयं नोपयांति ते॥ ३४॥

टीका—आश्वलायन बोले—विवेक का तात्पर्य दूरदर्शिता भी है। वह मात्र समझदारी तक ही सीमित नहीं है। विवेकवान दूरगामी परिणामों को भी देखते हैं और आरंभ में तनिक-सी हानि उठाकर भविष्य में यदि अधिक लाभ की संभावना हो तो उसका समर्थन भी करते हैं। कई काम तत्काल तो लाभदायक प्रतीत होते हैं, किंतु अंत में दुःख देते हैं। कुछ आरंभ में तो कष्टकर लगते हैं, किंतु उनका परिणाम अंततः सुखद होता है। ऐसे प्रसंगों में अदूरदर्शी तो भ्रमग्रस्त होते हैं और तत्काल लाभ के लिए भविष्य में बड़ी हानि उठाते हैं, साथ ही अभ्युदय को भी प्राप्त नहीं हो पाते॥ २९-३४॥

विवेकिनः परं ये तु लघ्वीं हानिं विलोक्य ते।
हानिमादिसमुद्भूतां स्वीकृत्यापि प्रयोजने॥ ३५॥
शोभने लग्नचित्ताश्च मोदंते परिणामतः।
व्यवसायरता मल्ला कृषका वा यथा च ते॥ ३६॥
विद्यार्थिनस्तपोवेषा मालाकारा अथापि च।
एतेषां धैर्यमेवैतान् कुरुते लक्ष्यगान् सदा॥ ३७॥

टीका—जो विवेकवान हैं, वे तुरंत ही छोटी हानि को देखकर कृषक, माली, विद्यार्थी, व्यवसायी, पहलवान की तरह आरंभिक

घाटा एवं कष्ट सहकर भी सत्प्रयोजनों में लगे रहते हैं और अंत में उस प्रयास के सत्परिणाम का आनंद लेते हैं। इनका धैर्य ही इन्हें लक्ष्य तक पहुँचाता है॥ ३५-३७॥

अदूरदर्शिनो जाले स्पृशित्वा लोभसंगताः।
विहगानां च मत्स्यानां गतिं गच्छंति मानवाः॥ ३८॥
ते स्मरंति न लोभेन जायमानां सुदुर्गतिम्।
शार्करेष्वप्सु गच्छन्त्या मक्षिकाया अपीदृशी॥ ३९॥
दुर्गतिर्जायते यस्मादुचितानुचितस्थितिम्।
सत्यासत्य विविक्तिं च विवेकः कुरुते स्वयम्॥ ४०॥
भिन्नभ्यस्ता जना अत्र प्रवाहे वहदेव तत्।
असत्यं सत्यरूपेण गृह्णन्ति भ्रममोहिताः॥ ४१॥
स्वयं तिष्ठन्ति तेऽन्यांश्च तथैवोपदिशन्त्यपि।
बहवः किं नराः कार्यं कुर्वते चिंतयंति किम्॥ ४२॥

टीका—अदूरदर्शी जाल में फँसने वाली मछली, चिड़िया की तरह प्रलोभन कर आतुर होकर यह भूल जाती हैं कि अंधा लालच क्या हानि करता है ? चासनी पर टूट पड़ने वाली मक्खी की भी ऐसी ही दुर्गति होती है। विवेक ही उचितानुचित का, सत्यासत्य का निर्णय कर पाता है, अन्यथा अभ्यस्त प्रवाह में बहने वाले तो असत्य को ही सत्य मान लेते हैं। अधिकांश लोग क्या करते और क्या सोचते हैं, इसी भ्रम में मोहित वे स्वयं भी भ्रमित हो जाते हैं और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं॥ ३८-४२॥

आधारमिममाश्रित्य सत्यासत्यविनिर्णयः।
भवितुं युज्यते नात्र नृगरिम्णोऽनुकूलगम्॥ ४३॥

किमिहास्ति समावेश आदर्शित्वस्य कुत्र सः।
सत्यस्योत्कृष्टतायाश्च त्वसत्यास्ति विवेचनम्॥ ४४॥
एतदाश्रित्य कर्त्तव्यं भवतीह परीक्ष्यताम्।
तर्कप्रमाणशाणे तदौचित्यं हेम नान्यथा॥ ४५॥

टीका—सत्य-असत्य का निर्णय इस आधार पर करना चाहिए कि मानवी गरिमा के अनुरूप क्या है? आदर्शवादिता का समावेश किसमें है? सत्यासत्य की विवेचना इसी उत्कृष्टता के आधार पर होनी चाहिए। तर्क और प्रमाण की ऐसी कसौटी बनानी चाहिए; जिससे सत्यरूपी स्वर्ण की सही परीक्षा हो सकना संभव हो॥ ४३-४५॥

राजहंस इव क्षीरनीरयोर्निश्चयं नरः।
कुर्याद् यत् तदुत्कृष्टं गृह्यतां हर्षपूर्वकम्॥ ४६॥
उष्णता च प्रकाशश्च यथा सूर्ये गुणावुभौ।
समन्वयस्तथा सत्ये प्रवृत्योस्तु द्वयोरपि॥ ४७॥
यथार्थता च तत्रैका न्यायनिष्ठमिदं तथा।
दूरदर्शित्वमन्या सा प्रवृत्तिर्मङ्गलोन्मुखी॥ ४८॥
समन्वयोऽनयोः पूर्णसत्यमत्राभिधीयते।
यदेकांगगतं तच्चापूर्णमेवाभिमन्यताम्॥ ४९॥

टीका—मनुष्य को राजहंस की तरह नीर-क्षीर-विवेक करना चाहिए और जो उत्कृष्ट है, उसी को हठपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य में गरमी और रोशनी दो गुण हैं, उसी प्रकार सत्य में दो प्रवृत्तियों का समन्वय है, एक यथार्थता दूसरी मंगलोन्मुख न्यायनिष्ठ दूरदर्शिता। इन दोनों का समन्वय ही पूर्ण सत्य है, एकांगी तो अधूरा रहता है॥ ४६-४९॥

कौंडिन्य उवाच—

कृपालो मानवे पूर्णं सत्यं प्राप्तुं सदैव सा।
समीहा विद्यतेऽथापि शक्तिः पूर्णा च विद्यते॥ ५०॥
तथापि विकलं सत्यं कथमादाय तिष्ठति।
भवेद् विडंबनायाश्च कथं मुक्तिरिदं वद॥ ५१॥

टीका—कौंडिन्य ने कहा—हे कृपालु ! मनुष्य में पूर्ण सत्य प्राप्त करने की चाह भी है और सामर्थ्य भी, फिर भी वह एकांगी सत्य में उलझकर क्यों रह जाता है? इस विडंबना से मुक्ति कैसे मिले? कृपया यह रहस्य स्पष्ट करें॥ ५०-५१॥

आश्वलायन उवाच—

सत्यं नारायणः साक्षादसीमश्चापि विद्यते।
सीमिता च मनुष्याणां बुद्धिराग्रहिणी लघुः॥ ५२॥
अंशो ज्ञातस्तया नूनमेक एवाधुनाऽपि च।
शेषं ज्ञेयं च यत्तत्तु विद्यतेऽत्यधिकं ततः॥ ५३॥
मनुष्यः सत्यसंप्राप्त्यै क्रमशोऽभ्यक्रमीदिह।
साफल्यमंशतश्चापि तत्र सोऽध्यगमत्तथा॥ ५४।
अपर्याप्तानि मन्तुं च ज्ञानानि स्वस्य तानि वा।
पूर्वजानां स्वकानां न लघुतावहमस्ति तु॥ ५५॥

टीका—आश्वलायन जी बोले—सत्य ही नारायण है। नारायण असीम है और मानवी बुद्धि सीमित है, वह विविध आग्रहों से और भी छोटी हो गई है। उसने अब तक सत्य का एक अंश ही जाना है, जो जानना शेष है, वह कहीं अधिक है। मनुष्य क्रमशः सत्य की प्राप्ति के लिए क्रमिक यात्रा करता रहा है और आंशिक सफलता प्राप्त करता रहा है। पिछली जानकारियों को अपर्याप्त मानने में अपनी या पूर्वजों की कोई हेठी नहीं है॥ ५२-५५॥

बाल्ये वस्त्राणि यान्येष परिधत्ते शिशुः सदा।
तानि प्रौढौ न गृह्णाति कोऽपि काले विनिर्गते॥ ५६॥
देशकालानुरूपेण यदीत्थं ताः परंपराः।
स्वीकृता भिन्नरूपेण तत्र नो विग्रहादिकम्॥ ५७॥
विद्यते सर्व एवैते धर्मात्मानो विदंतु तत्।
तथ्यं गृह्णन्तु सत्यं च विवेकं हितमात्मनः॥ ५८॥

टीका—बालकपन में जो वस्त्र पहने जाते हैं, समय बीत जाने पर प्रौढ़ावस्था में उन्हें कोई नहीं पहनता। इस प्रकार यदि देशकाल के अनुरूप परंपराएँ भिन्न प्रकार से अपनाई गई हों तो उसमें विग्रह जैसी कोई बात नहीं है। सभी धर्मप्रेमियों को तथ्य समझना और सत्य तथा विवेक को अपनाना ही उचित है, चूँकि इसमें उनका अपना भी कल्याण है॥ ५६-५८॥

वार्ता काऽपि चचालायमितिहासो नृणां क्रमात्।
अस्मादेव न चान्योऽस्ति पंथा विज्ञात उत्तमः॥ ५९॥
प्राप्तज्ञानस्य लाभं च विंदन्तोऽतो यदस्ति च।
अज्ञातं ज्ञातुमेवादः प्रयासोऽपि विधीयताम्॥ ६०॥
इतिहासं च सम्मान्य भविष्यन्निर्मितिस्तथा।
निर्धारणस्य हेतोश्चाऽपिहिता बुद्धिरिष्यते॥ ६१॥
तत्त्वज्ञानस्य सिद्धांतस्त्वयमेव हि विद्यते।
आधारमिममाश्रित्य विज्ञानं जृम्भितं स्वयम्॥ ६२॥
यथास्थानं स्वपादौ च स्थिरौ यैर्विहतौ नरैः।
प्रगतेः पथि यातुं च शक्यं नाग्रहिभिस्तु तैः॥ ६३॥

टीका—मानवी प्रगति का इतिहास क्रम से चला है और इससे भिन्न कोई उत्तम मार्ग विदित भी नहीं है। अतः उपलब्ध जानकारी का लाभ उठाते हुए भी जो अविज्ञात है, उसे समझने का प्रयास करें। इतिहास का सम्मान करते हुए भी भविष्य में निर्माण एवं निर्धारण के लिए मस्तिष्क खुला रहे। तत्त्वज्ञान का सिद्धांत यही है। विज्ञान इसी आधार पर विकसित हुआ है। पैरों को यथास्थान जमाए रखने के आग्रही प्रगति-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते॥ ५९-६३॥

मन्तव्यं धर्ममूलं च सत्यमेवाप्तुमप्यतः।
अतिरिक्ताश्च भिन्नास्ता ज्ञातुं वाञ्छाऽस्तु मान्यता॥ ६४॥
औचित्यस्य यथार्थस्य दिशायामभियातृभिः।
निष्पक्षस्याधिगंतव्यो न्यायस्याश्रय उत्तमैः॥ ६५॥
ज्ञानं चेदृशमेवात्र मनुष्यं सत्यमार्गणे।
करोत्यग्रेसरं येन पूर्णलक्ष्याप्तिसंभवः॥ ६६॥
पुरुषा आग्रहिणः स्वं च सीमाबंधनमेव तु।
सर्वस्वं मन्यमाना हि भजन्ते हि दुराग्रहम्॥ ६७॥
दूरं सत्यात्समग्राच्च तिष्ठन्त्येव निरंतरम्।
विवेकालंबनं तस्मात्सत्याप्त्यै ध्रुवमिष्यते॥ ६८॥

टीका—धर्म के मूलस्वरूप को सत्य माना जाए। इसके अतिरिक्त अन्यान्य मान्यताओं के संबंध में अधिक जानने की इच्छा रखी जाए। औचित्य और यथार्थ की दिशा में बढ़ते हुए उत्तम पुरुषों के द्वारा निष्पक्ष न्याय का आश्रय लिया जाए। ऐसा विवेक ही मनुष्य को सत्य की खोज में अग्रसर करता है। पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँच सकना इसी प्रकार संभव हो पाता है। आग्रही अपने सीमा बंधन को ही सब कुछ मानकर उसका हठ करते हैं और समग्र सत्य से दूर ही बने रहते हैं।

इसलिए विवेक का अवलंबन सत्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है ॥ ६४-६८ ॥

आरोचतेदं सर्वेभ्यो विवेचनमिहाद्भुतम्।
भ्रांतेभ्यो विकृतारीतीः प्रति चाग्रहिणस्तु ये ॥ ६९ ॥
तेभ्यः याथार्थ्यबोधाय सर्वैरनुमितं त्विदम्।
दूरदर्शित्वयुक्ताश्च प्राप्तुं वै ज्ञानशीलता ॥ ७० ॥
अनिवार्यं विधातुं च लोकमानसमुन्नतम्।
नियते समये सत्रं समाप्तिं तदगादलम्।
हर्षिता धर्ममासाद्य संप्रदायतिरोहितम् ॥ ७१ ॥

टीका—आज का विवेचन सभी को बहुत सुहाया। भ्रांतियों और विकृतियों के प्रति आग्रही लोगों को यथार्थता समझाने के लिए सभी ने अनुमान किया कि दूरदर्शी विवेकशीलता को अपनाने के लिए उन्नत लोक-मानस बनाना आवश्यक है। सत्र नियत समय पर विधिवत् समाप्त हो गया। सभी लोग संप्रदायों की चहारदीवारी में छिपे धर्म को जानकर अतीव प्रसन्न हुए ॥ ६९-७१ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री आश्वलायन-कौंडिन्य ऋषिसंवादे 'सत्य-विवेक', इति प्रकरणो नाम ॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता प्रकरण

चतुर्थो दिवसस्त्वद्य सत्रस्याभूच्छुभोदयः।
मनीषिणां समेषां हि संगतानामवर्द्धत ॥ १ ॥
जिज्ञासूनां स उत्साहो धर्मस्यास्य विशालताम्।
महत्त्वं चान्वभूवँस्ते जगन्मंगलमुत्तमम्॥ २ ॥
ज्ञानगोष्ठी समारब्धा विधिवद्विद्वदुत्तमः।
विद्रुथः प्रणमन्नेवाध्यक्षं पप्रच्छ सादरम्॥ ३ ॥

टीका—आज सत्र का चौथा दिन था। उपस्थित मनीषियों एवं जिज्ञासुओं का उत्साह बढ़ रहा था। उन्हें धर्म की महानता और विशालता का और भी अच्छी तरह अनुभव होने लगा था। आज की ज्ञानगोष्ठी विधिवत् आरंभ हुई तो विद्वान विद्रुथ ने अध्यक्ष का अभिवादन करते हुए आदर सहित पूछा— ॥ १-३ ॥

विद्रुथ उवाच—

धर्मस्यापरयुग्मस्य भगवन् प्रविवेचनम्।
क्रियतां कश्च संबंधः कर्त्तव्ये संयमेऽस्ति च॥ ४ ॥
उभौ कथं सुसंबद्धौ मतौ तौ हि परस्परम्।
उदतारीन्महाप्राज्ञ एवं स आश्वलायनः॥ ५ ॥

टीका—विद्रुथ बोले—हे भगवन् ! धर्म के दूसरे युग्म की विवेचना करें। संयम और कर्त्तव्य का आपस में क्या संबंध है? दोनों एकदूसरे के साथ जुड़े हुए या गुँथे हुए क्यों माने गए हैं? महाप्राज्ञ आश्वलायन ने उत्तर देते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ४-५ ॥

आश्वलायन उवाच—

सत्राध्यक्षः अबोधयत् समुदायमुपस्थितम् ।
सज्जनाः ! भगवान् प्रादात् प्रत्येकस्मै नराय तु ॥ ६ ॥
विभूतिर्विपुला याश्च सुप्तास्तिष्ठंति नित्यशः ।
स्थूलेऽस्मिंस्तथा सूक्ष्मे शरीरे बीजरूपतः ॥ ७ ॥
साधनायाः प्रयत्नेन तास्तु वर्द्धयितुं तथा ।
परिपुष्टा विधातुं च शक्याः सर्वैस्तु मानवैः ॥ ८ ॥
उद्बोधिता न चाप्येता इयत्यां संति विग्रहे ।
मात्रायां येन निर्वाहक्रमं शान्त्या सुखेन च ।
पर्याप्ताः पूरितुं तास्तु संति चाक्षयतां गताः ॥ ९ ॥

टीका—सत्राध्यक्ष श्री आश्वलायन जी ने उपस्थित जनसमुदाय को समझाया कि सज्जनों ! भगवान ने हर व्यक्ति को विपुल परिमाण में विभूतियाँ प्रदान की हैं। वे उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरों में, बीजरूप में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हैं। साधना के थोड़े प्रयत्न के साथ उन्हें जगाया-बढ़ाया और परिष्कृत किया जा सकता है। न जगाया जाए तो भी वे इतनी मात्रा में हैं कि निर्वाहक्रम को सुख-शांति से भरा-पूरा रखने की दृष्टि से पर्याप्त हैं, इन्हें अक्षय समझना चाहिए ॥ ६-९ ॥

आसां दुरुपयोगं नो प्राणिनोऽन्ये तु कुर्वते ।
स्वस्थं जीवन्त्यतः सर्वे ससुखं सर्वदैव च ॥ १० ॥
केवलं मानवोऽस्त्येष दर्पोन्मत्तस्तु यः सदा ।
मर्यादास्ताभिनत्त्याऽसंयमं स्वीकरोति च ॥ ११ ॥
प्रकृतेर्दण्डसंस्थित्या स्खलत्येव पदे-पदे ।
दुःसहं दुःखमाप्नोति समुदायोऽत्र सोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥

टीका—अन्य प्राणी इनका अपव्यय-दुरुपयोग नहीं करते, अतएव स्वस्थ और सुखी जीवन जीते हैं। मात्र मनुष्य ही ऐसा है, जो दर्प में उन्मत्त होकर मर्यादाओं को तोड़ता है असंयम बरतता है और प्रकृति की दंड व्यवस्था के अनुसार पग-पग पर ठोकरें खाता और दुस्सह-दुःख सहता है॥ १०-१२॥

जनसमुदाय उवाच—

प्रज्ञ ब्रूतामिहास्माकं पुरोऽसंयमाशु तम्।
यस्माद्धेतोर्नरोरोग-शोकाक्रांतश्च जायते॥ १३॥
वयं सर्वे स्वरूपं तत्तस्य ज्ञातुं समुत्सुकाः।
परिणामं, च येन स्याज्जीवनं सफलं तु नः॥ १४॥

टीका—जनसमुदाय ने पूछा—हे प्रज्ञावान्! उस असंयम का वर्णन कीजिए, जिसके कारण मनुष्य को रोगशोकों से आक्रांत होना पड़ता है। हम सब उसके स्वरूप और प्रतिफल को जानने के इच्छुक हैं, जिससे हमारा मनुष्य जीवन सफल हो सके॥ १३-१४॥

कौंडिन्य उवाच—

चतस्रो भगवाञ्छक्तीः प्रत्येकस्मै नराय तु।
दत्तवाञ्जन्मतो, शक्तिरिन्द्रियाणां मताऽऽदिमा॥ १५॥
द्वितीया कालशक्तिश्च विचाराणां तृतीयिका।
साधनानाञ्चतुर्थी सा शक्तिः प्रोक्ता बुधैरिह॥ १६॥
शक्तयस्तिस्र एतेषां शरीरे मनसि स्थिताः।
चतुर्थी विपुलायां सा मात्रायां विद्यतेऽभितः॥ १७॥
संपदा प्रकृतेरत्र पुरुषार्थेन स्वेन याः।
अर्जितुं शक्यते मर्त्यैर्यथेच्छं प्रकृतेः सदा॥ १८॥

टीका—कौंडिन्य बोले—हे सज्जनो ! भगवान ने हर मनुष्य को चार स्तर की शक्ति जन्मजात रूप से प्रदान की हैं, इनमें एक है, तीसरी विचारशक्ति और चौथी, साधनशक्ति । तीन शक्तियाँ उसके शरीर और मन में भरी पड़ी हैं। चौथी प्रकृति-संपदा के रूप में सर्वत्र विपुल परिमाण में विद्यमान है। वह अपने पुरुषार्थ द्वारा उसमें से जितनी चाहे बटोर सकता है॥ १५-१८॥

जननेंद्रियस्य जिह्वायाश्चाञ्चल्यमधिगत्य तु।
नरा बुद्धिं निजामत्रोदरं तद्दूषयंत्यलम्॥ १९॥
शारीरिकैर्मानसैश्च रोगैर्ग्रस्ता भवंत्यलम्।
आलस्येन प्रमादेन समयं यापयंति च ॥ २०॥
ते दरिद्रा विकासेन रहिता एव सर्वदा।
तिष्ठंति मानसं चैषां शरीरं मलपीडितम्॥ २१॥
दोषजीर्णं जराग्रस्तमिवाशक्तं भवेत्ततः।
संपदा समयोऽप्यस्ति प्रभुदत्ता नरश्च याम्॥ २२॥
श्रमे नियोजितां कृत्वा योग्यताः संपदा अपि।
सर्वा एवार्जिताः कर्तुं सक्षमो नात्र संशयः॥ २३॥
श्रमपूर्वं च यावान् स कालो व्यत्येति शोभने।
पुरुषार्थे जीवितं यत्तज्जीवनं मान्यतामिह॥ २४॥

टीका—जीभ और जननेंद्रिय का चटोरापन अपनाकर लोग अपना पेट तथा मस्तिष्क खराब करते हैं और शारीरिक-मानसिक रोगों से ग्रसित होते हैं। समय को आलस्य-प्रमाद में बिताने वाले दरिद्री और पिछड़ेपन से ग्रस्त बने रहते हैं। उनके शरीर और मन को जंग खा जाती है तथा वे जराग्रस्त की तरह अशक्त हो जाते हैं। समय भी ईश्वरप्रदत्त संपदा है। श्रम में उसे नियोजित रखकर हर प्रकार की

योग्यताएँ तथा संपदाएँ अर्जित की जा सकती हैं। जितना समय श्रमपूर्वक श्रेष्ठ पुरुषार्थ में व्यतीत हुआ है, उतना ही जीवन जिया मानना चाहिए॥ १९-२४॥

बलमांतिरिकं नूनं विचारोऽयं तथैव च।
स यस्मिन् क्वापि लक्ष्ये तु तत्तथा विनियुज्यते॥ २५॥
प्रगतिस्तदनुरूपेण तत्र साफल्यमप्यलम्।
जायते परमेनं तु लोकास्ते नाशयंत्यपि॥ २६॥
कल्पनासु विनिक्षिप्य विकृतासु च तं नराः।
बाधाःप्रकृतिमार्गे च भावयंति सुकंटकाः॥ २७॥

टीका—विचार आंतरिक बल और पुरुषार्थ है, उसे जिस किसी भी लक्ष्य पर नियोजित किया जाता है, उसी में तदनुरूप प्रगति होती और सफलता मिलती है। लोग अस्त-व्यस्त और विकृत कल्पनाओं में उलझाए रहकर उसे नष्ट भी करते हैं और विकृतियों में उलझाकर अपने लिए संकट भी उत्पन्न करते हैं॥ २५-२७॥

न्यूनता साधनानां न विद्यते कुत्रचित्क्षितौ।
तेऽधिगन्तुं च शक्यास्तु योग्यतां श्रमशीलताम्॥ २८॥
मनोयोगमथोद्बोध्य सर्वैरेव च मानवैः।
सार्थयंति धनं सद्भ्यो युञ्जते ये सदागमम्॥ २९॥
मात्राऽल्पाऽपि च तस्यैषा प्रयच्छति महत्फलम्।
सन्निवेशं समाश्रित्य यद्यप्यतुलवैभवाः॥ ३०॥
नरा दुरुपयुञ्जाना नाशयंतस्तु तत्स्वयम्।
यांति नाशं यथा नौका छिद्रे जाते निमज्जति॥ ३१॥

टीका—साधनों की कमी नहीं। वे योग्यता, श्रमशीलता और मनोयोग बढ़ाकर अभीष्ट मात्रा में उपार्जित किए जा सकते हैं। ईमानदारी

से कमाने और सत्प्रयोजनों में ही उन्हें प्रयुक्त करने वाले धन को सार्थक बनाते हैं। उसकी थोड़ी मात्रा भी सदुपयोग के आधार पर महान प्रतिफल प्रदान करती है; जबकि विपुल संपदा वाले भी उसका दुरुपयोग करने पर उसे नष्ट करते, साथ ही स्वयं भी नष्ट होते हैं। छेद होने पर नौका पानी में डूब जाती है॥ २८-३१॥

दुग्धे दुग्धे च चालन्यां पश्चात्तापोऽभिलभ्यते।
असंयमस्य छिद्रेषु पूर्वोक्तेषु चतुर्ष्वपि ॥ ३२॥
संपदाया जीवनस्य स्रवन्त्यंशास्ततो नरः।
दीनं दरिद्रमात्मानमभाग्यमसहायकम् ॥ ३३॥
अनुभवंति नरा ये तु समये सावधानताम्।
आश्रित्य संयमं चात्मशक्तिस्रोतोऽन्तर्यंति नो॥ ३४॥
परं विवेकपूर्वं तत्सर्वं सद्भ्यो नियुञ्जते।
क्वोपयोज्या संयमेन सञ्चिताः संपदा इति॥ ३५॥
संबन्धे बोधयत्यस्मान् यत्तु धर्मानुशासनम्।
भद्राः शृण्वंतु तत् सर्वे भवंतो ध्यानपूर्वकम्॥ ३६॥

टीका—चलनी में दूध दुहने से मात्र पश्चात्ताप ही हाथ रहता है। इसी प्रकार असंयम के उपर्युक्त चार छिद्रों में होकर जीवन-संपदा के महत्त्वपूर्ण अंश बह जाते हैं और मनुष्य अपने आपको दीन-दरिद्र, असहाय-अभागा अनुभव करता है। बुद्धिमान वे हैं, जो समय रहते इस दिशा में सतर्कता बरतते हैं और संयमी रहकर अपने शक्ति भंडारों को नष्ट नहीं होने देते, वरन विवेकपूर्वक उन्हें सत्प्रयोजनों में ही नियोजित किए रहते हैं। संयम द्वारा संचित संपदा का कहाँ उपयोग करना चाहिए, इस संबंध में धर्मानुशासन जो कहता है, उसे भद्रजनों आप ध्यानपूर्वक सुनें॥ ३२-३६॥

मनुष्याय प्रभुर्यत्र व्यतरच्चिन्तनं महत्।
स्वतंत्रमपि कर्त्तृत्वं तत्राबध्नादपि प्रभुः॥ ३७॥
नरं त्वनेककर्त्तव्यशृंखलाभिरुदारधीः।
संगच्छध्वं संवदध्वं कर्तुं स व्यवहारगम्॥ ३८॥

टीका—मनुष्य को ईश्वर ने जहाँ स्वतंत्र चिंतन और कर्तृत्व की क्षमता प्रदान की है, वहाँ उसे अनेकानेक कर्त्तव्यों की जंजीरों में भी जकड़ा है; क्योंकि वह उदारचेता है, **'संगच्छध्वं संवदध्वम्'** को व्यावहारिक रूप देना चाहता है॥ ३७-३८॥

पशवो नाभिजानंति कार्याकार्यस्थितिं ततः।
कार्यं स्वं कुर्वते सर्वं प्रकृतेः प्रेरणानुगम्॥ ३९॥
स्वातन्त्र्यं च मनुष्याय दत्त्वाऽपेक्षितमत्र यत्।
उपयोगं विशेषायाः सुविधायाः स आचरेत्॥ ४०॥
कर्त्तव्यपालनाख्येषु कार्येष्वेव न चान्यथा।
चित्तं सन्तुलितं स्वस्थं वपुश्चारित्र्यमुज्ज्वलम्॥ ४१॥
कर्तुं दायित्वमस्यास्ति त्रीण्येतानि प्रभोश्च मे।
न्यासं विविच्य रक्षंति तान्ययोग्योपयोगतः॥ ४२॥
प्रयोजनेषु सत्स्वेव योजना-बद्धरूपतः।
युज्जते ते दृढन्यासा लक्ष्यं यान्ति च निश्चितम्॥ ४३॥

टीका—पशुओं को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता, वे मात्र प्रकृति-प्रेरणा का अनुसरण करके ही अपना काम चला लेते हैं, किंतु मनुष्य को जो स्वतंत्रता प्रदान की गई है, उसके साथ ही ईश्वर ने यह अपेक्षा भी की है कि वह इस विशेष सुविधा का उपयोग मात्र उन्हीं कार्यों में करेगा, जिन्हें कर्त्तव्यपालन कहते हैं। शरीर को नीरोग, मन को संतुलित और चरित्र को उज्ज्वल रखना मनुष्य का उत्तरदायित्व

है। इन तीनों को ईश्वर की धरोहर समझकर जो उन्हें अनुपयुक्तताओं से बचाए रहते हैं, सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध रूप से जुटाए रहते हैं, उनके पैर लड़खड़ाते नहीं और अभीष्ट लक्ष्य तक निश्चय पूर्वक पहुँचते हैं॥ ३९-४३॥

विद्रुथ उवाच—

साधकाः ज्ञातुमिच्छंति प्राज्ञ ! संयमकारणान्।
संचितां शक्ति मत्रैते कर्त्तव्यस्यैव पालने॥ ४४॥
कथं न साधकाः सर्वे समर्थास्तु भवन्त्यहो।
महत्ता मार्ग आर्षे का गन्तुं बाधास्तु वृत्तयः॥ ४५॥

टीका—विद्रुथ बोले—हे प्राज्ञ ! साधक समझना चाहते हैं कि समय द्वारा अपनी शक्तियाँ बचाकर कर्त्तव्यपालन में प्रयुक्त करने में साधक में समर्थ क्यों नहीं होते? महानता के इस ऋषि प्रणीत मार्ग पर बढ़ने में कौन-सी प्रवृत्तियाँ बाधक होती हैं॥ ४४-४५॥

आश्वलायन उवाच—

भद्रा ! मर्त्यस्य तृष्णा सा वासनाऽहंत्वमप्यलम्।
गभीरत्वं समुद्रस्य तिरस्कुर्वन्ति वस्तुतः॥ ४६॥
एतेषां पूर्तिहेतोश्चेत्समस्ताः सुविधास्तथा।
संपदा अपि विश्वस्य दत्ता स्यान्नहि तृप्तिदा॥ ४७॥
दावानलस्य ज्वालेव संति त्रीण्यपि निश्चितम्।
एतेषां शान्तये न्यूनं जगतो वैभवेन्धनम् ॥ ४८॥

टीका—आश्वलायन बोले—भद्रजनो ! मनुष्य की वासना, तृष्णा, अहंता समुद्र से भी अधिक गहरी है। इनकी पूर्ति के लिए संसार की समस्त सुविधा-संपदा झोंक दी जाए तो भी पूर्ति न हो सकेगी। यह तीनों ही दावानल जैसी अग्नि ज्वालाएँ हैं। इन्हें शांत करने के लिए संसार के समस्त वैभव का ईंधन भी कम है॥ ४६-४८॥

एतेषां तुष्टये सर्वं न्यूनमेवार्जितं नृणाम्।
लोभादिकं तु पूर्त्यै स्यादलं नासीमितं कृतम्॥ ४९॥
घृतेन दीप्यते वह्निर्मोहान्धस्तेन मानवः।
कर्त्तव्यं पालनं नैव चिंतयत्येष चात्मनः॥ ५०॥
लोभातिरिक्तं नैवायं किञ्चित्कुत्रापि पश्यति।
कर्त्तव्यनिश्चये बुद्धिर्नैवास्यैवं प्रवर्तते॥ ५१॥
तस्य पालनहेतोश्च साहसोत्साहयोः कथम्।
भावः स उदयं गच्छेद् विनाऽऽभ्यां सिद्धिरेव का॥ ५२॥

टीका—इनकी तुष्टि के लिए जो भी जुटाया जाएगा, वह कम पड़ जाएगा। लोभ, मोह और अहंकार की पूर्ति के लिए कितना ही कुछ किया जाए, वह कम ही पड़ता जाएगा। घृत डालने से आग और भड़कती है। ऐसी दशा में मोहांध व्यक्ति कर्त्तव्यपालन की बात सोच ही नहीं पाता। उसे लालच के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी दशा में कर्त्तव्य निर्धारण में उसकी बुद्धि काम ही नहीं देती। उसका पालन करने के लिए उत्साह और साहस जगेगा ही कैसे? और बिना कर्त्तव्यपालन के कोई लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकेगा॥ ४९-५२॥

कर्त्तव्यपालनं नूनं गौरवं महतां महत्।
तेनैवाप्नोति संतोषं पुरुषो दुर्लभं परम्॥ ५३॥
कर्मयोगो मतः सर्वसुलभः सर्वसम्मतः।
कल्याणकारकोऽत्यर्थं यत्रचैकमतं नृणाम्॥ ५४॥
कर्त्तव्यपालकान् मर्त्यान् शूरान् धर्मरतांस्तथा।
भक्तान् वदंति कर्त्तव्ये सार्थक्यं जीवनस्य तु॥ ५५॥

व्यवस्था प्रगतिश्चात्र विद्यंते सुप्रसन्नता।
दायित्वमुह्यते कर्मपालनाधारमाश्रितम् ॥ ५६ ॥
मनुष्यश्चेदृशो याति गौरवं दर्शयत्यपि।
मार्गं स्वयं मनुष्येभ्योऽसंख्येभ्यो धन्यजीवितः ॥ ५७ ॥

टीका—कर्त्तव्यपालन ही सबसे बड़ा गौरव है। संतोष उसी से मिलता है। कर्मयोग को सर्वसुलभ, सर्वमान्य और सर्वोपरि कल्याणकारक माना गया है। इसमें सबका एक मत है। कर्तव्य-कर्म करने वाले शूरवीर धर्मनिष्ठ और ईश्वरभक्त माने जाते हैं। जीवन की सार्थकता भी कर्त्तव्यपालन में है। प्रसन्नता, व्यवस्था और प्रगति भी इसी में है। उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर्त्तव्यपालन के आधार पर ही बन पड़ता है। ऐसा ही स्वनामधन्य मनुष्य गौरवशाली बनता और असंख्यों का मार्गदर्शन करता है॥ ५३-५७॥

योगेषु कर्मयोगोऽतो विद्यते महतां महान्।
गीता सर्वस्वमप्येतन्मूलं संसारसंपदाम् ॥ ५८ ॥
कर्त्तव्यपालनं नूनं सुलभं मोददं तथा।
भूयो भूय इदं सर्वैः स्मर्तव्यं हि दिवानिशम्॥ ५९ ॥
व्यवधानं च तस्यात्राकरणे केवलं त्विदम्।
दुष्प्रवृत्तिर्न मर्त्यास्तु क्षमंते रोद्धुमात्मनः॥ ६० ॥
लोभे नियंत्रणं नैव संभवत्यपि चैव हि।
अंधस्येव स्थितिर्मोहाज्जायते च नृणामिह॥ ६१ ॥

टीका—योगों में कर्मयोग की महत्ता महान कही गई है। यही गीता का सार व विश्व-वैभव का मूल है। कर्त्तव्यपालन सुलभ भी है और आनंददायक भी, यह बात बार-बार दिन रात याद रखनी चाहिए, किंतु उसके न बन पड़ने में एकमात्र व्यवधान यही है कि

लोग अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं रख पाते। लालच पर नियंत्रण करते नहीं बन पड़ता। मोह से अंधे जैसी स्थिति बन जाती है॥ ५८-६१॥

अहंकारी भवत्येवोन्मादीवावेशतां गतः।
सत्सु चैतेषु दोषेषु समीहा मानवस्य तु॥ ६२॥
आकांक्षाः केवलं ताश्च सदा पूरयितुं द्रुतम्।
उच्छलंति स्वकर्त्तव्यपालने स्युस्तथाऽक्षमाः॥ ६३॥
स्पृहास्तं तु नयन्त्येव यत्र कुत्राऽपि वै बलात्।
स्पृहावात्यागृहीतश्च शान्तिं विंदति नो मनाक्॥ ६४॥
त्यागोऽप्यपेक्ष्यते नूनं कर्त्तव्यस्यात्रपालने।
श्रमश्चाऽपि तथा सार्वभौमं पौरुषमप्यलम्॥ ६५॥
इमा सर्वाविभूतीश्च लिप्सा सा पूर्वमेव हि।
उदरस्थाः करोत्येव लुब्धोऽकिञ्चित्करो भवेत्॥ ६६॥

टीका—अहंकारी, उन्मादी जैसा आवेशग्रस्त होता है। इन दोष-दुर्गुणों के लिए मनुष्य की इच्छामात्र महत्त्वाकांक्षाएँ पूर्ण करने के लिए ही उभरती रहती है। वह कर्त्तव्यपालन में समर्थ हो ही नहीं पाता। लिप्साएँ उसे कहीं-से-कहीं, घसीट ले जाती हैं। लिप्सापूर्ति के झंझावात में पड़ा हुआ व्यक्ति क्षण भर भी शांति प्राप्त नहीं कर पाता है। कर्त्तव्यपालन में त्याग भी करना पड़ता है और श्रम-पुरुषार्थ भी। इन सब विभूतियों को लिप्सा अपने पेट में पहले से ही उदरस्थ कर लेती है। ऐसी दशा में लोलुपों से ही करते-धरते नहीं बन पड़ता॥ ६२-६६॥

क्रिया विचारणा भिन्ने कर्त्तव्यस्यात्र पूर्तये।
मनोयोगः श्रमोऽथापि संयमश्चाप्यपेक्षिताः॥ ६७॥

योक्तुं तेषां च प्राप्त्यर्थं नरः संयमशीलताम्।
भजेदेव स्पृहा चापि नियम्यैव च वै नरैः॥ ६८॥
इयन्नैव च ये कर्तुं पारयंति नरा भवेत्।
दिवास्वप्नायितं तेषां कर्मयोगः सदैव तु॥ ६९॥
प्रतिकूलस्थितौ चापि कर्मयोगी न त्रस्यति।
युद्ध्यमानस्तु ताभिः स बुद्ध्या तरति चापदः॥ ७०॥

टीका—सोचना और करना भिन्न है। कर्त्तव्यपालन के लिए जिस मनोयोग और श्रम-संयम का लगाया जाना आवश्यक है, उसे बचाने के लिए मनुष्य को संयमशील बनना पड़ता है। लिप्साओं पर अंकुश लगाना पड़ता है। जो इतना नहीं कर पाते, उनके लिए कर्मयोग एक दिवास्वप्न मात्र बनकर रह जाता है। प्रतिकूल स्थिति आ जाने पर भी कर्मयोगी त्रस्त नहीं होता है, उन स्थितियों से युद्ध करता हुआ, वह बुद्धि से उन विपत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ ६७-७०॥

सुरसा वदनात्सोऽयं मारुतिर्निर्गतो बहिः।
मशकं रूपमाश्रित्य मनुजन्माऽपि चेदृशम् ॥ ७१॥
परित्यज्य निराशां वै दुराशां दूरयन्नपि।
कर्मयोगी भवेदेवं जीवश्चेश्वरतां व्रजेत् ॥ ७२॥
योगाभ्यासेषु सर्वेषु तपः संयमजं मतम्।
अनिवार्यमहंकारो लोभो मोहस्तथैव च ॥ ७३॥
अंकुशास्त्रय एवैते दंभा उन्नतिबाधकाः।
स्वल्पसंतोषवृत्त्या च वर्तितव्यं सुयोगिभिः॥ ७४॥
उत्साहः स्वस्तथाऽऽकांक्षा आदर्शैः योक्तुंमुत्तमाः।
विनाऽऽदर्शं सदिच्छां च ज्ञानं पापायतेऽपि तु॥ ७५॥

टीका—सुरसा के मुख से हनुमान मच्छर बनकर बाहर निकल आए। कुत्साओं को नियंत्रित करके ही मनुष्य कर्मयोगी बन सकता है। जीव होता हुआ भी ईश्वर बन सकता है। हर योगाभ्यास में संयम की तपश्चर्या अनिवार्य रूप से आवश्यक बताई गई है। कर्मयोगी को लोभ-मोह और अहंकार के तीन शत्रुओं का दमन करना चाहिए। स्वल्प संतोषी बनकर रहना चाहिए और उमंगों-आकांक्षाओं को आदर्शों के साथ जोड़ना चाहिए। बिना सदिच्छाओं के, बिना आदर्श के ज्ञान भी पाप पूर्ण हो जाता है॥ ७१-७५॥

तृष्णाः स्वाश्च वशीकुर्याद् यावदेव नरः स्वयम्।
तावदेव स्वकर्त्तव्यपालनं संभवेद् भृशम्॥ ७६॥
संयमाधारमाश्रित्य सञ्चितैर्विभवैर्नरः।
साधनानि स्वकर्त्तव्यपालनस्यार्जितुं क्षमः॥ ७७॥
ब्राह्मणविप्रवृत्तेश्चाभ्यस्ता वै साधवो मताः।
अस्यार्थश्चायमेवास्ति दुष्प्रवृत्तिरिमास्तथा ॥ ७८॥
महत्त्वपूर्णाकांक्षाश्च नियम्यैव च संभवेत्।
परोपकारो विप्राणां यश्च नैसर्गिको गुणः॥ ७९॥

टीका—जो मनुष्य अपनी तृष्णाओं पर जितना अंकुश लगा सकेगा, उसके लिए उतनी ही तत्परता के साथ कर्त्तव्य पालन संभव हो सकेगा। संयम के आधार पर संभव हुई बचत से ही कर्त्तव्यपालन के आवश्यक साधनों को लगाया जा सकना संभव होता है। ब्राह्मण तथा ब्रह्मणवृत्ति के व्यक्ति ही साधु बन सकते हैं। इसका अर्थ है—महत्त्वाकांक्षाओं- त्रिविध दुष्प्रवृत्तियों का दमन करने के उपरांत ही परमार्थपरायण हो सकना संभव है, जो ब्राह्मणों का स्वाभाविक गुण देखा जाता है॥ ७६-७९॥

धर्मस्याऽपरयुग्मस्य कर्त्तव्यसंयमाख्ययोः ।
द्वयोरन्योऽन्यसंबंधे ज्ञाते ते तुतुषुः स्थिताः ॥ ८० ॥
स्पृहा-नियमनान्नूनं विना कर्त्तव्यपालनम् ।
संभवेन्नैव तथ्यं च जना जानन्ति ये त्विदम् ॥ ८१ ॥
समर्थास्ते नरा एव धर्तुं धर्मस्य पावनम् ।
पादं तृतीयं येनेमे देवत्वं प्राप्नुयुर्ध्रुवम् ॥ ८२ ॥
प्रतिपादनमेतच्च ज्ञानगोष्ठ्यामभून्मतम् ।
समेषां कृतकृत्यांश्च मेनिरे स्वान् समे ततः ॥ ८३ ॥
नियते समये सोऽयं समारोहो विसर्जितः ।
भ्रांतेर्वात्या विधूता च यया लोकोविखंडितः ॥ ८४ ॥

टीका—धर्म के दूसरे युग्म संयम और कर्त्तव्य का अन्योन्याश्रय संबंध समझने पर सभी उपस्थित जनों को बहुत संतोष हुआ। लिप्सा-नियमन के बिना कर्त्तव्य धर्म का पालन नहीं बन सकता, इस तथ्य को जो लोग समझते हैं, वे ही धर्म के तीसरे चरण की अवधारणा करने में समर्थ होते हैं, जिससे सभी देवत्व को प्राप्त हो सकते हैं। ज्ञानगोष्ठी में आज का प्रतिपादन सभी को बहुत भाया और उन्होंने अपने को इस प्रतिपादन से कृतकृत्य माना। नियम समय पर समारोह विधिवत् विसर्जित हुआ। भ्रांति का वातचक्र ध्वस्त हो गया, जिसने मनुष्यों को खंड-खंड कर अलग-अलग फेंक दिया था॥ ८०-८४॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री आश्वलायन-विदुष ऋषिसंवादे 'संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता' इति प्रकरणो नाम

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अनुशासन-अनुबंध प्रकरण

पञ्चमे दिवसे तत्र निश्चिते समये पुनः।
ज्ञानगोष्ठी समारब्धा सत्संगसमयोद्भवा॥ १॥
जिज्ञासवः समे स्वानि चासनानि तु भेजिरे।
प्रेरणा भावबोधिन्यो लभ्यंते प्रतिपादनैः॥ २॥
प्रतिपादनमाश्रुत्य सर्वं सर्वे व्यधुश्च तत्।
हृदयंगममेतेऽत्र संगताः पुरुषाः स्वयम्॥ ३॥

टीका—पाँचवे दिन संत समागम की ज्ञानगोष्ठी नियत निर्धारण के अनुसार निश्चित समय पर आरंभ हुई। सभी जिज्ञासुओं ने अपने-अपने आसन सँभाले। प्रवचन-प्रतिपादनों से सभी को भावभरी प्रेरणाएँ मिल रही थीं। सभी प्रतिपादनों को सुनने के साथ-साथ गंभीरतापूर्वक हृदयंगम भी कर रहे थे॥ १-३॥

उद्दालक उवाच—

देवधर्मस्य श्रुत्वैतद् युग्मयोऽस्तु विवेचनम्।
आनन्दः परमः प्राप्तः समैरस्माभिरुत्तमः॥ ४॥
तत्पालनाय सर्वेषामुत्साहः समुदेति च।
वचोऽमृतमिदं नव्यं जीवनं नः प्रयच्छति॥ ५॥
प्रकाशमपि, तद् युग्मं तृतीयं कृपया भवान्।
प्रकाशयतु संबंधः कोऽनुबंधस्य चास्य तु॥ ६॥
अनुशासनस्य मध्ये स भिन्नता का च विद्यते।
व्यवहारोपयोगी च बोधो धर्मस्य स्यादयम्॥ ७॥

टीका—उद्दालक बोले—हे देव ! धर्म के दो युग्मों की विवेचना सुनकर हम सब को बड़ा आनंद प्राप्त हुआ है। उनके परिपालन में सभी को भारी उत्साह उमड़ रहा है। आपके अमृत वचन हम सबको नया जीवन, नया प्रकाश दे रहे हैं। अब कृपा कर तृतीय युग्म पर प्रकाश डालें और बताएँ कि अनुशासन और अनुबंध का परस्पर क्या संबंध है ? उनके बीच भिन्नता क्या है, जिससे धर्म का व्यवहारोपयोगी बोध हो जाए॥ ४-७॥

आश्वलायन उवाच—

अनुशासनमत्राहुर्गुणं सामाजिकं बुधाः।
सभ्यता शब्दितोऽप्येतदनुबंधस्तथास्ति सः॥ ८॥
गुणस्त्वांतरिको यां च संस्कृतिं कथयन्त्यपि।
सुसंस्कारित्वशब्देन जना जानंति कुत्रचित्॥ ९॥
द्विधैतयोः प्रयोगस्तु क्षेत्रयोर्भवति द्वयोः।
एकमुद्गममूलं तु द्वयोरेवास्ति वस्तुतः॥ १०॥

टीका—श्री आश्वलायन ने कहा—विद्वानों ने अनुशासन को सामाजिक गुण कहा है और इस बाह्य अनुबंध को सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है। इसका दूसरा रूप आंतरिक गुण के रूप में होता है, जिसे सुसंस्कारिता या संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इनके प्रयोग तो दोनों क्षेत्रों में दो प्रकार से होते हैं, पर उनका मूल उद्गम एक ही है॥ ८-१०॥

शालीनता समुद्भूतं द्वयमेवेति मन्यताम्।
यथाऽऽदर्शान् प्रति त्वास्था सद्भावः सद्विचारणाम्॥ ११॥
तत्रोदयं समायातो यत्रोत्कृष्टं च चिंतनम्।
अपरान् प्रति सम्मानभावना यत्र चात्मनि॥ १२॥

सौजन्यस्य समारोहस्तत्रैवैतत्तु संभवेत्।
कर्त्तव्यपालनं नूनं नागराणां न चान्यथा ॥ १३ ॥
निर्वहेच्च सदाचारस्तत्र चाप्यनुशासनम्।
व्यवहारे समागच्छेत् सभ्यता शब्दितं तु यत्॥ १४ ॥
संभवेच्छलयुक्तं न नाटकीयस्य वस्तुतः।
सौजन्यस्य च पाखण्डं झटिति प्रकटं भवेत्॥ १५ ॥

टीका—दोनों ही शालीनता के उत्पादन हैं। जहाँ आदर्शों के प्रति आस्था होगी, वहाँ सद्भावना, सद्विचारणा पनपेगी। जहाँ उत्कृष्ट चिंतन चल रहा होगा, दूसरे के प्रति सम्मान का भाव होगा, अपने में सज्जनता का आरोपण रहा होगा, वही नागरिक कर्त्तव्यों का परिपालन बन सकेगा। वहीं शिष्टाचार निभेगा और सभ्यता के रूप में जाना जाने वाला अनुशासन अपनाया जा सकेगा, यह छलपूर्वक नहीं हो सकता। नाटकीय सज्जनता का पाखंड प्रकट होने में देर नहीं लगती॥ ११-१५॥

प्रयासाऽऽसादितो यस्तु शिष्टाचारः स जायते।
अल्पेऽपि प्रातिकूल्ये तु विशीर्णत्वं स्वतः क्षणात्॥ १६ ॥

टीका—सीखा हुआ शिष्टाचार, तनिक-सी प्रतिकूलता पड़ते ही अस्त-व्यस्त हो जाता है॥ १६॥

यथार्थत्वं गभीरत्वं यत्र तत्र समापतेत्।
झञ्झावातोऽपि चेत्तर्हि सदाचारतरुर्दृढ़ः॥ १७॥
न भवेच्चलमूलः सस्थिरता तत्र पूर्ववत्।
पारंपर्येण संस्कार निर्मितिर्युज्यते त्वतः॥ १८॥

टीका—जहाँ यथार्थता और गंभीरता होती है, वहाँ वृक्ष की जड़ें हिलती नहीं। स्थिरता यथावत् बनी रहती है। अतः संस्कारों को पैदा करने की परंपरा बनाए रखनी चाहिए॥ १७-१८॥

संबंधे संस्कृतेरेतद् विद्यते साऽऽत्मनिर्भरा।
भवति स्वगरिम्णस्तु द्रष्टारः सम्मुखे स्थिताः॥ १९॥
नराः किं कुर्वते नैतज्जातु पश्यंति कुत्रचित्।
अशुभेषु शुभेष्वेते संति कालेषु मानवैः॥ २०॥
भिन्नप्रकृतिभिर्योगे स्वौत्कृष्ट्यं प्रति निर्भराः।
झञ्झावाते न जायंते विक्षुब्धा गिरयश्चला॥ २१॥

टीका—संस्कृति की यह विशेषता है कि यह आत्मनिर्भर होती है। अपनी गरिमा का बोध रखने वाले यह नहीं देखते कि सामने वाले क्या करते हैं। वे भले और बुरे अवसरों पर विपरीत प्रकृति के व्यक्तियों से पाला पड़ने पर भी अपनी उत्कृष्टता के संबंध में आत्मनिर्भर रहते हैं। बवंडर आने पर भी पर्वत न तो हिलते हैं और न विक्षुब्ध विपन्न होते हैं॥ १९-२१॥

श्रेष्ठतानां समाजस्था मर्यादा अनुशासनम्।
उच्यते पालनीयं तत्सर्वैरेव च मानवैः॥ २२॥
अनुशासनजा नूनं व्यवस्था स्थिरता ततः।
प्रगतिः स्थिरताहेतोः समागच्छति च क्रमात्॥ २३॥

टीका—श्रेष्ठता की समाजगत मर्यादाओं को अनुशासन कहते हैं। वह सभी के लिए पालने योग्य है। उसके प्रति किसी को उपेक्षा या अवज्ञा नहीं बरतनी चाहिए। अनुशासन से व्यवस्था चलती है। व्यवस्था से स्थिरता रहती और प्रगति होती है॥ २२-२३॥

उद्धता शिक्षिता मर्त्याः स्वाहंकारसमुद्भवम्।
कुसंस्कारत्वमाश्रित्योच्छृङ्खलत्वं चरंत्यलम्॥ २४॥
फलतस्तु सहंते ते दुःखान्यन्येभ्य एव च।
भवंति दुःखदा नीचैः पतंतः पातयन्त्यपि॥ २५॥

अनुशासनहीनत्वात् विशीर्णत्वमुपैति यत्।
तस्मात्संपन्नता नश्येत् सामर्थ्येन सहैव तु॥ २६॥
अपेक्षया च लाभस्य ततो दृश्यं तु दुःखदम्।
प्रत्यक्षतामुपैत्येवं पश्चात्तापोऽवशिष्यते॥ २७॥

टीका—उद्धत अनगढ़ लोग अपनी अहंता की कुसंस्कारिता से प्रेरित होकर उच्छृंखलता बरतते हैं। फलतः स्वयं गिरते और दूसरों को गिराते हैं। अनुशासनहीनता से जो बिखराव उत्पन्न होते हैं, उसके कारण उपलब्ध समर्थता एवं संपन्नता बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और उनके द्वारा लाभ के स्थान पर हानि का दुःखदायी दृश्य ही सामने आता है एवं पश्चात्ताप ही शेष रहता है॥ २४-२७॥

सृष्टिस्थितौ हि सर्वत्र व्यवहारोऽभिजायते।
अनुशासनजः सर्वे निर्जीवा जीविनोऽथवा॥ २८॥
ग्रहाः पदार्थाः पिंडाद्या वनस्पति-समा अपि।
अनुशासनसंबद्धाः स्थिराः संत्यात्मसत्तया॥ २९॥
एषु येऽपि च गृह्णन्ति स्वेच्छाचारं व्रजंति ते।
विनाशं स्वयमन्येभ्यो विपत्तिर्भावयंत्यपि॥ ३०॥

टीका—सृष्टि व्यवस्था में सर्वत्र अनुशासन ही बरता जा रहा है। ग्रहपिंड, पदार्थ, वनस्पति तथा सजीव-निर्जीव सभी सृष्टि व्यवस्था के अनुशासन में जकड़े रहकर ही अपनी सत्ता बनाए हुए हैं। इनमें से जो भी स्वेच्छाचार बरतता है, वह स्वयं तो नष्ट होता ही है, दूसरों के लिए भी विपत्ति खड़ी करता है॥ २८-३०॥

अनुशासनपराश्चात्र संयुक्तां सैनिका निजाम्।
परिचाययंति शक्तिं ते लोके मान्या भवंति च॥ ३१॥

टीका—सैनिक अनुशासन पालते और संयुक्त शक्ति का परिचय देते हैं, इसी से सभी पर उसकी धाक रहती है॥ ३१॥

जीवन क्षेत्र में भी अनुशासन पालन करने वाले अपनी धाक जमाए और दूसरों पर छाए रहते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण गांधी जी थे।

लघवः कीटका ताश्च चीटिका मधुमक्षिका।
वल्मीककृमयश्चापि तेऽनुशासनगौरवम्॥ ३२॥
जानंति मानवा एव ततः किं ज्ञानशीलताम्।
परित्यज्य हि स्वीकुर्युरुच्छृंखल्यमनीप्सितम्॥ ३३॥
अपमानं गरिम्णो यत्तस्य नूनं च विद्यते।
व्यवहारे नात्ममानी तत्कदाचिन्नियोजयेत्॥ ३४॥

टीका—चींटी, दीमक तथा मधुमक्खी जैसे छोटे कृमि-कीटक अनुशासन का महत्त्व समझते हैं, फिर मनुष्य ही क्यों अपनी विवेकशीलता खोकर अनभीष्ट उच्छृंखलता बरते। यह उसकी गरिमा का अपमान है, जिसे कभी भी आत्मसम्मानी को अपने व्यवहार में सम्मिलित नहीं होने देना चाहिए॥ ३२-३४॥

सम्मानं नृगरिम्णः सा ह्यनुशासनसंसृतिः।
अनुशासिताः समर्थाः स्युरन्याश्चाप्यनुशासितान्॥ ३५॥

टीका—अनुशासन पालना मानवी गरिमा का सम्मान है। जो अनुशासन पालते हैं, वे ही दूसरों को अपने अनुशासन में रख सकने में समर्थ होते हैं॥ ३५॥

कर्तुमुच्छृंखला ये तु स्वयं तादृक् प्रतिक्रियाः।
अयोग्या सम्मुखे तेषामुपयांति सुपीडकाः॥ ३६॥
प्रकृतेरनिवार्येयं दंडदानव्यवस्थितिः।
श्रमं कर्तुं विशीर्णा तां नाह्वयेन्नाशमात्मनः॥ ३७॥

टीका—उच्छृंखलता अपनाने वालों को बदले में वैसी ही अनुपयुक्त प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ता है। प्रकृति की दंड व्यवस्था अपरिहार्य है, उसे अस्त-व्यस्त करने के प्रयत्न अपनाकर सर्वनाश करने की मूर्खता किसी को नहीं करनी चाहिए॥ ३६-३७॥

लोकसेवां समाश्रित्याऽनृणः सामाजिकादृणात्।
मर्यादैवास्ति पूता च वानप्रस्थपरंपरा ॥ ३८॥
प्रामाणिकत्वमाप्तुं च नीतिमत्ता समीहिता ।
अनिवार्यतया चात्र चरित्रे तु कलंकता॥ ३९॥
पवित्राणां तथा तासां मर्यादानां विलंघनम्।
कुरुतो दुर्बलं मर्त्यमविश्वस्तो भवेच्च सः॥ ४०॥

टीका—लोकसेवा अपनाकर समाज ऋण से उऋण होना मर्यादा होता है। वानप्रस्थ पुनीत परंपरा है। प्रामाणिकता अर्जित करने के लिए नीतिवान होना आवश्यक है। चरित्र पर उँगुली उठाने एवं पवित्र मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाला मनुष्य भीतर से दुर्बल पड़ जाता है और उसका विश्वास चला जाता है। ३८-४०॥

कुरीतीनां तथैवान्धक्रमाणां च विरोधिता।
अन्यरूपोपयुक्तानां व्यवस्थानामिह स्वयम्॥ ४१॥
सामाजिकानां दुर्वृत्योल्लंघनस्य प्रदर्शनम्।
अन्यदेव चरित्रेण युक्तो भवति शक्तिमान्॥ ४२॥
मर्यादापालको मर्त्यः पुरुषोत्तम उच्यते।
असामान्यं बलं तस्याऽसामान्यश्च पराक्रमः॥ ४३॥

टीका—कुरीतियों का, अंधपरंपराओं का विरोध करना एक बात है और उपयुक्त समाज व्यवस्थाओं का उल्लंघ करने में उच्छृंखलता दिखाना सर्वथा दूसरी। चरित्रवान ही शक्तिवान होता है।

जो मर्यादाओं का परिपालन करता है, उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। उसका बल-पराक्रम असाधारण होता है॥ ४१-४३॥

धर्मयुग्मे तृतीये च शास्त्रकारैस्तु मानितः।
अनुशासनवश्योऽयमनुबंधो महत्त्ववान्॥ ४४॥
आत्मानुशासनं ह्येतद् व्यवहार्यं निजेच्छया।
कृत्यप्रकृतिसंबंधे विचाराकांक्षयोरपि॥ ४५॥
सामाजिकावृतौ सत्यामपि क्षेत्रस्य चास्य तु।
औत्कृष्ट्यावरणं कार्यं स्वयमेव नरैरिह॥ ४६॥

टीका—धर्म के तृतीय युग्म में शास्त्रकारों ने अनुशासन की तरह ही 'अनुबंध' को भी महत्त्व दिया है। यह आत्मानुशासन है, जो अपनी आकांक्षाओं, विचारणाओं, गतिविधियों तथा आदतों के संबंध में स्वेच्छापूर्वक बरता जाता है। सामाजिक दबाव होते हुए भी उस क्षेत्र की उत्कृष्टता का वरण स्वयं ही करना होता है॥ ४४-४६॥

महतां मानवानां तु व्यवहारोऽथ चिंतनम्।
अंतःस्थितौ प्रेरणायां यातो निर्भरतां सदा॥ ४७॥
गृह्णन्ति श्रेष्ठता-मात्रमनीप्सितमिमे क्षणात्।
पराङ्मुखं प्रकुर्वन्ति विकृतिं यान्ति नो ततः॥ ४८॥

टीका—महामानवों का चिंतन तथा व्यवहार अंतः की स्थिति तथा प्रेरणा पर निर्भर रहता है। वे दूसरों से मात्र श्रेष्ठता की प्रेरणाएँ ही ग्रहण करते हैं। अवांछनीयता के आरोपण को वे तत्काल वापस लौटा देते हैं, इसी से वे विकृत स्थिति में नहीं पहुँचते हैं॥ ४७-४८॥

आनुकूल्यं प्रपश्यंति जीवात्मपरमात्मनोः।
केवलं तेन संतुष्टाः तिष्ठंत्यात्मरताः सदा॥ ४९॥

ध्यानं ददति निन्दायां स्तुतौ वा ते यदात्विमे।
न्यायनिष्ठैः कृते स्यातामपक्षैश्च विवेकिभिः॥ ५०॥
विवेकहीनाः पश्यंति स्वानुरूपान् समानपि।
निन्दंति वा प्रशंसंति निःसारां दृष्टिमाश्रिताः।
तन्न ध्यायन्ति विज्ञास्तु जायंते न प्रभाविताः॥ ५१॥

टीका—वे मात्र आत्मा और परमात्मा की अनुकूलता का ही ध्यान रखते हैं और इतना बन पड़ने से ही पूर्ण संतुष्ट रहते हैं। निंदा स्तुति पर वे तभी ध्यान देते हैं, जब वह निष्पक्ष, विवेकवान और न्यायनिष्ठों द्वारा की गई हो। अविवेकी तो अपने अनुरूप सबको देखते हैं और उथला दृष्टिकोण अपनाकर निंदा या प्रशंसा करते हैं, उस पर विज्ञजन न तो ध्यान देते हैं और न प्रभावित होते हैं॥ ४९-५१॥

अनुशासनं परैरेव द्रष्टव्यं भवतीति यः।
पालयेत्पूज्यते स तु निंद्यते य उपेक्षकः॥ ५२॥
अन्तरंगोऽनुबंधस्तु ज्ञानं तस्यात्मनो भवेत्।
तपसा तेन स्वात्मैव बलिष्ठो जायते ध्रुवम्॥ ५३॥
व्यक्तित्वं स्वं समुद्गच्छेत् संतोषोल्लासयोरपि।
प्राप्तिर्भवति सोऽयं चानुबंधो व्रतधारणम्॥ ५४॥
दुर्विचारपरित्यागसद्विचाराप्तिरेव च।
अनुबंधो बुधैः प्रोक्तः संस्कर्ता यो नृणामिह॥ ५५॥

टीका—अनुशासन दूसरों को दीख पड़ता है। पालन करने वालों की प्रशंसा और तोड़ने वालों की निंदा होती है, अनुबंध अंतरंग होता है। उसकी जानकारी अपने को ही रहती है। उस तपश्चर्या से अपनी ही आत्मा बलिष्ठ होती है अपना ही व्यक्तित्व उभरता है और अपने

को ही संतोष उल्लास की प्राप्ति होती है। अनुबंध व्रत धारण को कहते हैं। मात्र श्रेष्ठ विचारों को अपनाना, बुरे विचारों का मनःक्षेत्र में प्रवेश करते समय उन्हें खदेड़ भगाना अनुबंध है, जो मनुष्यों को सुसंस्कृत बनाता है॥ ५२-५५॥

अनावेशस्थितिर्बुद्धेः सदा सन्तुलनं तथा।
शुभाशुभोक्तौ शान्त्या स विचारः पर्यवेक्षणम्॥ ५६॥
पक्षस्यास्य विपक्षस्य कृत्वा निष्पक्षभावतः।
न्यायावाप्तिरिह प्रोक्तं शीलं सर्वसुखाकरः॥ ५७॥

टीका—आवेश में न आना, संतुलन बनाए रहना, भले-बुरे कथन पर शांतिपूर्वक विचार करना और पक्ष-विपक्ष का पर्यवेक्षण करते हुए किसी निष्पक्ष न्याय-निष्कर्ष पर पहुँचना शील है, जो समस्त सुखों का खजाना है॥ ५६-५७॥

कृत्यान्यवाञ्छनीयानि भ्रमविस्मृतिकारणात्।
जायंतेऽत्र बहून्येवं दुर्बुद्ध्याऽपि तथैव च॥ ५८॥
भिन्नतामुभयोः कुर्वन्ननुरूपेण शोधितुम्।
यत्नो यो धैर्यमाहुस्तं सर्वाण्येतानि संति च॥ ५९॥

टीका—कितने ही अवांछनीय कृत्य भूल या भ्रमवश बन पड़ते हैं, कई जान-बूझकर दुष्ट बुद्धि से होते हैं। दोनों में अंतर करते हुए तदनुरूप सुधार का प्रयत्न करना धैर्य कहलाता है। यह सभी व्रत अनुबंध हैं॥ ५८-५९॥

व्रतानुबंधनामानि मानवोत्कर्षहेतवः।
सदा व्यसनराहित्यं स्वभावोऽयोग्य एष यः॥ ६०॥
तदधीनानां परिज्ञानं तेषां त्यागः शनैः शनैः।
एकवारेण वाऽप्येषा कथिता व्रतशीलता॥ ६१॥

टीका—व्रत और अनुबंध ही मानव उत्कर्ष के हेतु हैं। दुर्व्यसनों से बचे रहना, जो अनुपयुक्त आदतें स्वभाव का अंग बन गई हैं, उनकी हानियों को समझना और एक बारगी अथवा धीरे-धीरे छोड़ने में लग पड़ना व्रतशीलता है॥ ६०-६१॥

अविकासस्थिता याश्च सत्प्रवृत्तय उन्नतान्।
तासां बीजांकुरान् कर्तुं लग्नतोत्साहिनस्तु या॥ ६२॥

टीका—जो सत्प्रवृत्तियाँ अभी विकसित नहीं हो पाई हैं, उनके बीजांकुरों को अंकुरित-पल्लावित करने में उत्साहपूर्वक लग पड़ना अनुबंध है॥ ६२॥

अनुबन्धः समाख्यातो गुणकर्मस्वभावके।
क्षेत्रे सद्वृत्तिमात्राणां वर्धनस्य मनः स्थितिः॥ ६३॥
दुष्प्रवृत्तिः सदा सर्वस्तराः शीघ्रतयैव ताः।
दूरीकर्तुं च सोत्साहं तत्परत्वमपीह च॥ ६४॥

टीका—गुण-कर्म-स्वभाव के क्षेत्र में मात्र सत्प्रवृत्तियों को ही पनपने बढ़ने देना चाहिए। दुष्प्रवृत्तियाँ जब भी जिस स्तर की भी उगती दीखें, उन्हें सहन न करना, अविलंब उखाड़ फेंकने में तत्परता प्रकट करना अनुबंध है॥ ६३-६४॥

अन्विष्यन्ति कुसंस्कारान् सञ्चिताञ्जागृतात्मनः।
उत्पाटयंति ता मालाकारा इव तृणादिकम्॥ ६५॥
उद्यानात्सततं व्यक्तेः स्वभावादात्मनोऽस्ति सा।
श्रेष्ठताया अभिव्यक्तिर्दृश्यते सज्जनैः सदा॥ ६६॥

टीका—व्यक्ति का स्वभाव ही उसके बहिरंग व्यवहार में झलकता है। माली की तरह आदमी को आत्मिक क्षेत्र में सतत निराई-गुड़ाई कर सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने का अभ्यास करते रहना चाहिए। यही वास्तविक पराक्रम है, जो मानव को देवमानव बनाता है॥ ६५-६६॥

सत्कर्माभिरता विज्ञा गुणवंतो भवंति ते।
प्रतिभाः क्षमतास्ते च वर्धयंति वरिष्ठताम्॥ ६७॥
कुमार्गप्रस्थितानन्यान् वीक्ष्य नानुसरंति तान्।
न चाकृष्टा भवन्त्येते तैःनरैर्न प्रभाविताः॥ ६८॥
परं मार्गं विनिर्मान्ति स्वयमेवात्मनः सदा।
निर्मान्ति श्रेष्ठतां स्वां तेऽक्षुण्णां संकल्प मात्रगाम्॥ ६९॥

टीका—विज्ञजन तो गुणवान भी होते हैं। वे अपनी क्षमता, प्रतिभा तथा वरिष्ठता का स्तर निरंतर बढ़ाते रहते हैं। दूसरे को कुमार्ग पर चलते देखकर, उनका अनुकरण नहीं करते, न उनसे प्रभावित आकर्षित होते हैं, वरन अपना मार्ग आप बनाते हैं। अपनी श्रेष्ठता एकाकी संकल्प के आधार पर अक्षुण्ण रखते हैं। ६७-६९॥

एतादृश्यैःनवैरन्येऽसंख्या लोकाः प्रभाविताः।
जायंतेऽनुसरन्त्येतान् भव्यान् मंगलरूपिणः॥ ७०॥
प्रभावयंति नो तांस्तु दुर्जना अपि तु स्वयम्।
स्वसौजन्यप्रभावेण कुर्वते तान्स्वतोऽन्यथा॥ ७१॥

टीका—ऐसे दृढ़ निश्चय मनुष्यों से अगणित लोग प्रभावित होते और अनुसरण करते हैं, ऐसे मनुष्य भव्य मंगलस्वरूप होते हैं। दुर्जन उन्हें प्रभावित नहीं कर पाते, वरन वे अपनी सज्जनता के प्रभाव से उन्हें ही बदलने में सफल होते हैं॥ ७०-७१॥

खंडयन्ति व्रतं स्वं नो दृढसंकल्पसंयुताः।
संयोगात्खंडिते प्रायश्चित्तं ते कुर्वते ध्रुवम्॥ ७२॥
त्रुटौ कदाचिज्जातायां पातयंति मनोबलम्।
नैव तेऽपि तु द्वैगुण्यसाहसेन पुनस्तथा॥ ७३॥

निश्चयं तं समादाय पुनः स्यान्न त्रुटिः क्वचित्।
अर्जयंति ततस्तत्र महत्तच्च मनोबलम्॥ ७४॥
मालिन्यं चिंतनक्षेत्रसमुद्भूतं नरास्तु ये।
क्षालयंति जयन्त्यत्र विचारैस्तु विचारकान्॥ ७५॥
चारित्र्यं न पतत्येषां भ्रष्टता चिंतने तु या।
दुष्टतायाः समावेशमाचारे कुरुते तु सा॥ ७६॥
तथ्यमेतद् विजानंति रक्षन्त्यात्मानमत्र च।
अवाञ्छनीयताऽऽकर्षात्तैरेवात्मधनुः धरैः॥ ७७॥
प्रेम सत्सहयोगोऽपि चाप्यते परमात्मनः।
यतात्मा यो नरो नैव स पराजयते क्वचित्॥ ७८॥
विश्वजेता स एवास्ति यतात्मा मानवस्तु यः।
बोधयंति नरं चैतत् पन्थानः शास्त्रदर्शिताः॥ ७९॥

टीका—संकल्पवान अपना व्रत तोड़ने नहीं, संयोगवश कभी टूटे तो उसका प्रायश्चित करते हैं। कभी कोई भूल होने पर मनोबल गिरने नहीं देते, वरन् दूने साहस के साथ फिर उस निश्चय पर आरूढ़ होते और भूल की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए अधिक मनोबल जुटाते हैं। जो चिंतन-क्षेत्र की मलीनता को धोता रहता है, कुविचारों को, सद्विचारों की सेना एकत्रित कर, परास्त करता रहता है। उसका चरित्र गिरने नहीं पाता। चिंतन की भ्रष्टता ही आचरण में दुष्टता का समावेश करती है, जो इस तथ्य को जानते और अवांछनीयता के आकर्षण से आत्मरक्षा करते रहते हैं, उन आत्मिक क्षेत्र के धनुर्धरों को ही भगवान का सच्चा प्यार और सहयोग मिलता है। जिसने अपने को जीत लिया, वह और किसी से हारता नहीं। आत्मविजयी को ही विश्वविजेता कहते हैं। शास्त्रदर्शित समस्त मार्ग मानवमात्र को यही बोध कराते हैं॥ ७२-७९॥

धर्मानुशासनस्येदमनुबंधस्य विद्यते ।
द्वन्द्वं संस्कृतिशब्देन सभ्यतायाः पदेन च॥ ८०॥
व्यवहरन्ति जना अन्ये ययोर्योगान्निरुह्यते।
नागरित्वस्य भावोऽयं तथा सामाजिकस्य सः॥ ८१॥
ज्ञायते लोक एते च सदाचारस्य नामतः।
व्यवहारस्य नाम्नाऽपि सतश्च यत्र तत्र तु॥ ८२॥

टीका—यह धर्म का अनुशासन और अनुबंध वाला युग्म है। कितने ही इसे सभ्यता और संस्कृति के नाम से, इसकी विवेचना करते हैं। दोनों के मिलने से नागरिकता और सामाजिकता निभती है। उन्हें सद्व्यवहार और सदाचार के नाम से भी जाना जाता है॥ ८०-८२॥

कल्पनाया न धर्मोऽस्ति विषयः कथनस्य च।
कथनं श्रवणं नैव पर्याप्तं त्वस्य सम्मतम्॥ ८३॥
आगन्तव्यं तु धर्मेण निजाचारे तथा च सः।
अंगतां दिनचर्याया नेतव्यो भूतिमिच्छता॥ ८४॥
सार्थक्यमत्र तस्यास्ति स्थितौ चास्यां गतो नरः।
धर्मात्मा वस्तुतस्त्वस्ति फलं प्राप्नोति पुण्यदम्॥ ८५॥
यदुक्तं शास्त्रकारैस्तु कृते धर्मात्मनां नृणाम्।
पारायणं न पुण्यं तत्पाठजं केवलं स्मृतम्॥ ८६॥

टीका—धर्म कल्पना-जल्पना का विषय नहीं। उसे आचरण में उतारा जाता है, दिव्यता की प्राप्ति के लिए उसे जीवनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाया जाता है। इसी में उसकी सार्थकता है। इसी स्थिति में पहुँचकर कोई सच्चे अर्थों में धर्मात्मा बनता है और वह पुण्यफल पाता

है, जो धर्मात्माओं को मिलने की बात शास्त्रकारों ने कहीं है। पाठ रूप में, जो परायण दैनिक होता है, वह पुण्य नहीं है॥ ८३-८६॥

जनैः सद्भिश्च तत्रत्यैः प्रखरत्वसमन्वयः।
पूतत्वेन सह ज्ञातः सोऽनिवार्यतयाऽथ तैः॥ ८७॥
विनयेनाथ सौजन्यभावेन सह च ध्रुवम्।
अन्वभूवन्निदं सर्वे महत्ता-पथगामिभिः॥ ८८॥
जीवने व्यक्तिगे भाव्यमनुशासनवर्तिभिः।
क्षेत्रे सामाजिके भाव्यं मर्यादानिष्ठतां गतैः॥ ८९॥
ज्ञातः समागमोऽद्यैष उपयोग परः समैः।
उपस्थिता जनाश्चास्य दिनस्यैतद् विवेचनम्॥ ९०॥
मत्वा विशेषरूपेण प्रभावपरिपूरितम्।
प्रसन्नवदनाः सर्वे ययुः सत्र-विसर्जनात्॥ ९१॥

टीका—उपस्थित संतजनों ने पवित्रता के साथ-साथ प्रखरता का समन्वय रहने की आवश्यकता समझी। नम्रता और सज्जनता के साथ इस बात की भी आवश्यकता अनुभव की कि महानता के पथ पर चलने वालों को व्यक्तिगत जीवन में अनुशासन प्रिय और सामाजिक-क्षेत्र में उपयुक्त मर्यादाओं के परिपालन में निष्ठावान होना चाहिए। आज का समागम अतीव उपयोगी समझा गया। उपस्थित जन इस दिन के प्रवचन का विशेष प्रभाव लेकर, प्रसन्नचित्त हो विसर्जित हुए॥ ८७-९१॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री आश्वलायन-उद्दालक ऋषिसंवादे 'अनुशासनोऽनुबंधः', इति प्रकरणो नाम ॥ पञ्चमोऽध्यायः॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सौजन्य-पराक्रम प्रकरण

प्रभाते पुण्यवेलायां प्रारब्धः सत्समागमः।
नैमिषारण्यगां वातावृतिं पूतां भृशं पुनः॥ १॥
ज्ञानालोकेन कुर्वंश्च प्रखरां समशोभत।
आगन्तारश्च सर्वेऽपि मुनयस्ते मनीषिणः॥ २॥
ज्ञानगंगावगाहेन श्रमे भ्रांतेर्गते भृशम्।
अन्वभूवन्नुदारास्ते धर्मात्मानः प्रसन्नताम्॥ ३॥
गतिशीलः प्रसंगोऽभूदवलम्ब्य कथं नरः।
धर्मस्य धारणां दिव्यां सर्वसाधारणादपि॥ ४॥
जीवनादधिगन्तुं च महामानवतामिह।
अर्हतीति कथं तिष्ठन् सामान्ये नरविग्रहे॥ ५॥
देवजीवनजं प्राप्तुमानन्दं संभवेदिति।
मार्गदर्शनमस्यासीत्सत्रस्य प्रतिपादनम्॥ ६॥
आरुणिः प्रश्नकर्त्ता च पप्रच्छ विनयानतः।
सत्राध्यक्षं च सत्रेऽस्मिन् दिव्ये सोऽद्यतनो मुनिः॥ ७॥
धर्मस्य धारणायाश्च भगवन् विषये शुभे।
ब्रूतां युग्मस्य तुर्यस्य सौजनस्य तथैव च॥ ८॥
पराक्रमस्य सम्बंधः वर्तते कः परस्परम्।
धर्माधारौ कथं प्रोक्तावुभावपि बुधैरिह॥ ९॥

टीका—प्रभात की पुण्यवेला में नित्य चलने वाला संत-समागम नैमिषारण्य के पुनीत वातावरण को और भी अधिक प्रकाश-प्रखरता

से भर रहा था। आगंतुक उदार धर्मात्मा, मुनि-मनीषी इस ज्ञानगंगा का नित्य अवगाहन करते हुए भ्रांति की थकान दूर हो जाने से अतीव प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे। प्रसंग गतिशील था। धर्मधारणा का अवलंबन करके किस प्रकार सर्वसाधारण से महामानव बनने का सुयोग मिल सकता है, किस प्रकार सामान्य मनुष्य कलेवर में रहते हुए भी देव जीवन का आनंद लिया जा सकता है, इसका मार्गदर्शन इस सत्र का विशेष विषय था। आज के प्रश्नकर्त्ता आरुणि ने विनयावनत होकर सत्राध्यक्ष से पूछा—हे भगवन् ! धर्मधारणा के चतुर्थ युग्म 'सौजन्य और पराक्रम' के संबंध में प्रकाश डालने का अनुग्रह करें। बताएँ कि उनका परस्पर क्या संबंध है और उनको धर्म का आधार क्यों कहा गया है ?॥ १-९ ॥

आश्वलायन उवाच—

उपस्थिता जनाः सर्वे शृण्वन्त्ववदधत्वपि।
धर्मः शब्दान्तरेणाऽत्र मंतव्यः शुभकर्मता॥ १०॥
कर्त्तव्यमिदमेवास्ति मानवानां तथैव च।
आत्मपूर्णत्वमेवाथ विश्वकल्याणमप्युत॥ ११॥
उभयं प्रयोजनं सिद्ध्येदनेन विधिना स्वतः।
सादर्शां दृढता प्राप्तुमर्ज्याश्च क्षमताः शुभाः॥ १२॥
एतासु प्रथमं युक्तं स्नेहसौजन्यमेव तु।
तत्परत्वं समग्रं च द्वितीयमभिमन्यताम्॥ १३॥

टीका—आश्वलायन ने कहा—प्रश्नकर्त्ता समेत सभी उपस्थित जन ! ध्यान से सुनें। धर्म को दूसरे शब्दों में सत्कर्म समझें। यही मनुष्य का कर्त्तव्य है। आत्मिक पूर्णता और विश्वकल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन भी इसी से पूर्ण होता है। इस आदर्शवादी दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए कुछ प्रमुख क्षमताएँ अनिवार्य रूप से अर्जित

करनी होती हैं। इनमें एक है—स्नेह-सौजन्य और दूसरी हैं—समग्र तत्परता॥ १०-१३॥

एका सज्जनता प्रोक्ता तथा कर्मठताऽपरा।
उभयोरपि संबन्धः कथ्यते च पराक्रमः॥ १४॥
पराक्रमश्च देवानां बलविक्रम उच्यते।
आधारमिममाश्रित्य स्थितिमुच्चां भजन्ति ते॥ १५॥
सर्वेषां प्राणिनां ते च कल्याणे मानवाः सदा।
जायंते निरताः श्रेयो विन्दन्त्यपि च संततम्॥ १६॥

टीका—सज्जनता और कर्मठता यह दोनों जब मिलते हैं तो उनका समन्वय पराक्रम कहलाता है। इसी आधार पर वे उच्चतम स्थिति तक पहुँचते हैं। सबका कल्याण करने में निरत रहते हैं और श्रेय प्राप्त करते हैं॥ १४-१६॥

अस्ति सज्जनता नूनं गुणः प्रथमतां गतः।
नम्राः विनयवंतश्च मधुरव्यवहारिणः॥ १७॥
सभ्यताऽभ्याससंपन्नाः सुसंस्कारयुता नराः।
उच्यंते सज्जना लोके सत्यपक्षानुगाः सदा॥ १८॥
हेतोः सज्जनतायाश्च शोभा सा वर्धते नृणाम्।
अशिष्टा दुष्टसंस्कारा नरा ये सन्त्यसंस्कृताः॥ १९॥
सर्वे मानवतां ते तु कुर्वते हि कलंकिताम्।
धूमकेतुसमास्ते तु जगतः श्रेयसां कृते॥ २०॥
सज्जनाः पुरुषैः सर्वैर्व्यवहारं शुभं सदा।
कुर्वते शत्रुभिश्चापि रोगो नाश्यो न रोगवान्॥ २१॥
प्रवृत्तेरपराधिन्या दमने गृह्यतामपि।
शल्यक्रियेव चादत्ता चिकित्साकारिणेव च॥ २२॥

उपक्रमस्तु कर्त्तव्यो येन ते गलिता क्रमान्।
अन्यानवयवान् कुर्युः कदाचिद् गलितान्नहि॥ २३॥
स्नेहे सद्भावप्राधान्यं पक्षपातस्य न स्थितः।
जायते तत्र सद्भावः हितेच्छां बोधयत्यलम्॥ २४॥

टीका—सज्जनता मनुष्य का आरंभिक गुण है। नम्र, विनयशील, मधुर व्यवहार वाले, सभ्यता की परंपरा से अभ्यस्त, सुसंस्कारी सत्य के पक्षपाती व्यक्तियों को सज्जन कहते हैं। सज्जनता से ही मनुष्य की शोभा बढ़ती है। अशिष्ट, अनगढ़, कुसंस्कारी तो मानवता को कलंकित करते हैं, वह विश्वकल्याण के विनाश सूचक धूम्रकेतु हैं। सज्जन हर किसी के साथ सद्व्यवहार करते है, शत्रु के साथ भी, अपराधी के साथ भी। रोग को मारा और रोगी को बचाया जाता है। अपराधी प्रवृत्ति का दमन करने में चिकित्सक द्वारा की गई शल्यचिकित्सा जैसा उपक्रम अपनाया जाना चाहिए, जो सड़े अवयव को इसलिए काटकर फेंक देता है कि उसके कारण होने वाली सड़न अन्य अवयवों को भी न गला डाले। स्नेह में पक्षपात नहीं, सद्भाव की प्रधानता होती है। सद्भाव का तात्पर्य हितकामना है॥ १७-२४॥

औदासीन्यमुपेक्षा च शोभते न परस्परम्।
भावः स्वत्व परत्वाख्यो नोपयुक्तो मतो नृणाम्॥ २५॥
हानिरेवैभिरत्रास्ति प्राप्यतेऽनादरात्सदा।
अनादरो मानलाभः सहयोगस्य चापि सः॥ २६॥
लाभः सद्व्यवहारेण जायते यत आत्मनः।
पिपासा प्रेमसंबद्धा जायते तस्य तर्पणम्॥ २७॥
आवश्यकं यथाऽऽहारो दीयते वपुषेऽपि सः।
प्रतीयंते प्रियश्चात्म-भावादन्येऽपि मानवाः॥ २८॥

विस्तरेण प्रियस्यापि प्रसादः प्राप्यते सदा।
परितः स्वं स्वमान्यानां जनानां वा समान्यता॥ २९॥
क्रियते तदनुसारं च व्यवहारे सुखावहा।
परिणतिर्दृश्यते तत्र तत्कालं मोदिनी नृणाम्॥ ३०॥

टीका—एकदूसरे के प्रति उदासी-उपेक्षा और पराएपन का भाव बरतना उपयुक्त नहीं। इससे हानि-ही-हानि होती है। अनादर के बदले अनादर ही मिलता है। सद्व्यवहार की प्रतिक्रिया भी सम्मान और सहयोग के रूप में उपलब्ध होती है। आत्मा को प्रेम की प्यास है। उसे तृप्त करना भी शरीर को भोजन देने की तरह ही आवश्यक है। दूसरों के प्रति आत्मीयता की भाव स्थापना करने पर वे प्रिय लगते हैं। प्रिय का विस्तार होने से प्रसन्नता बढ़ती है। अपने चारों ओर अपने लोग रहने की मान्यता बनाने और तदनुसार व्यवहार करने पर उसकी सुखद परिणति हाथोहाथ दीखने लगती है, जो मानवमात्र को सुखद होती है॥ २५-३०॥

व्यवहारो निजोऽभ्येति समीपे स्वस्य स तथा।
शब्दो वा कंदुकश्चाऽपि सम्मुखस्थगृहस्य तु॥ ३१॥
शिखरात् प्रतिहतौ तीव्रमायातस्तु यथा ध्रुवम्।
स्नेह-सौजन्य-लाभश्चारंभकर्त्रेऽधिको भवेत्॥ ३२॥
अपेक्षया कृतं यं तु नरमुद्दिश्य तस्य तु।
प्रत्यक्षं परिणामः स सेवासद्भावजो मतः॥ ३३॥
अतिरिक्ततया पुण्यं प्राप्यते वर्द्धते तथा।
मानमाधारमेनं च समाश्रित्याप्यते च यत्॥ ३४॥
प्रामाण्यं च वरिष्ठत्वं सहयोगो नृणां ततः।
प्राप्तुं सा न्यूनता नैव कापि कुत्रापि दृश्यते॥ ३५॥

टीका—अपना व्यवहार गुंबज की आवाज की तरह, फेंकी हुई गेंद की तरह, सामने वाले से टकराकर अपने पास ही लौट आता है। जिसके प्रति स्नेह, सौजन्य बरता गया है। उसे जितना लाभ होता है उसकी तुलना में उस शुभारंभ करने वाले को अधिक लाभ मिलता है। सेवा के बदले सेवा, सद्भाव के बदले सद्भाव, मिलने का परिणाम तो प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त पुण्यफल भी मिलता है, सम्मान बढ़ता है और इस आधार पर प्रख्यात हुई प्रामाणिकता और वरिष्ठता पर जन-सहयोग मिलने में भी कमी नहीं रहती॥ ३१-३५॥

महान्तो मानवास्त्वेनमाधारमभिगम्य ते।
जाताः समुन्नता याता अग्रे सर्वेभ्यः एव च ॥ ३६॥
स्नेहसौजन्ययुक्तानि तेषां वाक्यानि स तथा।
व्यवहारोऽपि सर्वैस्तु मानितो मानवैः शुभः ॥ ३७॥
फलतश्च कृतज्ञत्वभावस्योपकृतेरपि ।
अतिरिक्ततया लाभाः प्राप्ताः प्राप्य तथात्विमान्॥ ३८॥
नरः स्यान्मुदितोऽश्रान्तः गौरवी पुलकाञ्चितः।
जनानां सहयोगेन कर्तुं नृनुन्नतान् समान् ॥ ३९॥
नैतिकाऽध्यात्मिकक्षेत्रे लभतेऽवसरः सदा।
आधारमिममाश्रित्य शिष्टाचारस्य जायते ॥ ४०॥
व्यवहृते सहयोगस्य दिव्या सा तु परंपरा।
वातावृतिर्यतोऽन्ते च निर्मितास्याच्छुभावहा॥ ४१॥
अवसरः प्रगतेः सर्वैराप्यते नीतिसंश्रिता।
स्नेहसौजन्ययोः सिद्धौ परार्थः स्वार्थ एव च॥ ४२॥

टीका—महामानव इसी आधार पर ऊँचे उठे और सबसे आगे बढ़े हैं। उसके स्नेह, सौजन्य से भरे वचन और व्यवहार हर किसी

को बहुत भाए। फलतः उनको कृतज्ञता-प्रत्युपकार भावना का अतिरिक्त लाभ भी मिला। इन उपलब्धियों को प्राप्तकर सकने वाला व्यक्ति प्रसन्न-पुलकित रहता है, गौरवान्वित होता है। जनसहयोग से ही लोगों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने का अवसर भौतिक और आत्मिक क्षेत्र में मिलता है। इस आधार पर जनसमुदाय में शिष्टाचार, सद्व्यवहार और सहयोग की परंपरा पलती है और उससे उत्तम वातावरण बनता है, सभी को प्रगति का अवसर मिलता है। स्नेह-सौजन्य की नीति अपनाने पर स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही समान रूप से सधते हैं॥ ३६-४२॥

उद्दंडा दुर्जनास्ते तु न पराक्रमशालिनः।
भवंति तेऽपराधित्वधिया क्राम्यंति संततम्॥ ४३॥
क्रियात्मकेषु कार्येषु न तु लग्नतया क्वचित्।
स्थातुं समर्था जायन्ते समाजपरिपन्थिनः॥ ४४॥
धैर्यं मनोबलं चास्य कृतेऽपेक्ष्ये भवन्त्यपि।
आदर्शनिष्ठायोगाच्च कार्याण्यत्र महान्त्यपि॥ ४५॥
कष्टानि सहमानैश्च क्रियन्ते तानि मानवैः।
संकल्पं चेदृशं तस्मादधिगच्छंति संततम्॥ ४६॥
मनःस्थितौ तथेदृश्यां नैति कश्चिन्निराशताम्।
योद्धुमुत्सहते चात्राऽसाफल्ये प्रतिगामिभिः॥ ४७॥
पराक्रमयुतानां च नराणां साहसैः श्रमैः।
मनोबलेन सिद्धानि कार्याण्यत्र महान्त्यपि॥ ४८॥

टीका—दुर्जन उद्दंड भर होते हैं, पराक्रमी नहीं। वे अपराधी प्रवृत्ति अपनाकर आक्रमण कर सकते हैं, पर किसी सृजनात्मक कार्य में लगनपूर्वक देर तक टिके नहीं रह सकते, वस्तुतः वे समाज

के शत्रु होते हैं। इसके लिए धैर्य और मनोबल चाहिए। आदर्शवादी निष्ठा के योगदान से महान कार्य बन पड़ते हैं। कष्ट सहकर भी उन्हें करते रहने का संकल्प इन्हीं कारणों से मिलता है। ऐसी मनःस्थिति होने पर असफलता की स्थिति में भी निराशा नहीं आती और प्रतिकूलताओं से जूझने का साहस अक्षुण्ण बना रहता है। पराक्रमी लोगों के अथक श्रम, अदम्य साहस और अटूट मनोबल के सहारे ही संसार के महान कार्य बन पड़े हैं॥ ४३-४८॥

तुलिता मणिमुक्ताभिः शोभनाः श्रमसीकराः।
लग्नता सिद्यधिष्ठात्री प्रोक्ता कामदुधा बुधैः॥ ४९॥
तत्परत्वं तन्मयत्वं सुयोगं यत्र गच्छतः।
साफल्याप्तौ न संदेहस्तत्र कश्चिद्भवेन्नृणाम्॥ ५०॥
कालश्रममनोयोगत्रयाणां यः समन्वयः।
स्रोतः सर्वविधानां तत् साफल्यानां मतं स्वतः॥ ५१॥
रहस्यमेतज्जानंति नराः स्वीकुर्वते च ये।
इयं भाग्यमहालक्ष्मीश्छायेवैतानुपासते॥ ५२॥
जीवितुं तु कियत्केन नेदं वर्षैस्तु गण्यते।
परं पौरुष संलग्नश्रममाश्रित्य गण्यताम्॥ ५३॥

टीका—स्वेद कणों की मणि-मुक्ताओं से तुलना की गई है। लगन को सिद्धियों की अधिष्ठात्री कहा गया है। यह कामधेनु है। तत्परता और तन्मयता का जहाँ भी सुयोग बनता है, वहाँ सफलता पाने में कोई संदेह नहीं रह जाता है। समय, श्रम और मनोयोग का समन्वय ही समस्त प्रकार की सफलताओं का स्रोत है। जो इस रहस्य को अपनाते हैं, भाग्य लक्ष्मी उन्हें चारों ओर से घेरे रहती है। कौन

कितना जिया, इसका मूल्यांकन वर्षों के हिसाब से नहीं, वरन पुरुषार्थ में लगे श्रम के आधार पर किया जाता है॥ ४९-५३॥

अत्येति साहसं सर्वान् पुरुषार्थफलं महत्।
प्राप्यते मानवैः सर्वैरलसा भाग्यवादिनः॥ ५४॥
भवंति दोषारोपं च नरेष्वन्येषु कुर्वते।
वर्द्धयंति नराः स्वां तु योग्यतां पुरुषार्थिनः॥ ५५॥
न चाञ्चल्यं श्रयन्त्येते स्वीकुर्वंति च कर्म यत्।
प्रतिज्ञापूर्वकं तच्च पूर्णं ते कुर्वते ध्रुवम्॥ ५६॥
असाफल्यमिह प्रोक्तं लग्नेन मनसा तथा।
पूर्णेनाथ श्रमेणापि न कृतं कर्मनिश्चितम्॥ ५७॥
समयावधिपर्यंतमिति तथ्यं विदंति ये।
नासाफल्ये निराशास्ते कुर्वतेऽपि तु कर्म तत्॥ ५८॥
मनोयोगेन ते सर्वे द्वैगुण्येन व्रजंति च।
सिद्धिं सुखानि सर्वाणि करस्थानि च कुर्वते॥ ५९॥

टीका—साहस बाजी मारता है। पुरुषार्थ का फल सभी को मिलता है। आलसी भाग्य की दुहाई देते और दूसरों पर दोष लगाते रहते हैं। पुरुषार्थी अपनी योग्यता बढ़ाते हैं। चंचलता को फटकने नहीं देते। जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसे प्रतिज्ञापूर्वक करते रहते हैं। असफलता का तात्पर्य है, पूरे मन और श्रम के साथ पूरे समय तक काम न करना। जो इस तथ्य को जानते हैं, वे असफलता मिलने पर निराश नहीं होते, वरन दूने मनोयोग के साथ काम करते हैं और सिद्धि को प्राप्त कर समस्त सुखों को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं॥ ५४-५९॥

आशा विश्वास शक्तिः सा बलकौशलसाधनैः ।
विभवैरपि प्रोक्ता च श्रेष्ठा सर्वगुणान्विता ॥ ६० ॥
वाञ्छतीह नरः स्वं यः सुखिनं च समुन्नतम् ।
साहसी पुरुषार्थी स श्रमशीलः सदा भवेत् ॥ ६१ ॥
प्रयोजनेषु संदर्भस्थितेष्वेव मनः सदा ।
नियोजयेन्न चान्यत्र भ्रामयेत्तन्निरर्थकम् ॥ ६२ ॥

टीका—आशा और विश्वास की शक्ति बल, कौशल और साधन की संपदा से भी अधिक है। जो सुखी रहना चाहते हों, उन्नतिशील बनना चाहते हो उसे चाहिए कि पुरुषार्थी रहे, साहस अपनाए और श्रमशील बने। मन को प्रस्तुत प्रयोजनों में लगाए रहे, उसे इधर-उधर न भटकने दें॥ ६०-६२ ॥

श्रमतः कच्छपोऽजैषीच्छशकं तीव्रगामिनम् ।
सन्ततं मंदगत्याऽपि श्रमलग्ना पिपीलिका ॥ ६३ ॥
शिखरं भूधरस्यैषा याति भारयुताऽपि तु ।
बयो-विहगनीडोऽपि तच्छ्रमं ख्याति सुन्दरः ॥ ६४ ॥
मनोयोगं च, मूर्खास्ते श्रमलग्ना भवन्त्यपि ।
विद्वांसो निर्धनाश्चापि धनवंतो न संशयः ॥ ६५ ॥

टीका—कछुए ने खरगोश से बाजी जीती थी। चींटी धीरे-धीरे, किंतु अनवरत श्रम करके बोझ लिए-लिए पर्वतशिखर पर जा पहुँचती है। बया पक्षी का इतना सुंदर घोंसला होना, उसके अथक श्रम और समुचित मनोयोग का ही प्रतिफल है। श्रम संलग्न होने पर मूर्खों को विद्वान और निर्धनों को धनवान बनाने का अवसर मिलता है॥ ६३-६५ ॥

योजितां दिनचर्यां ये कृत्वा लग्नाः परिश्रमे।
सन्ततं स्वास्थ्यमेतेषां दृढं दृढतरं भवेत्॥ ६६॥
वर्द्धतेबुद्धिमत्ताऽपि व्यसनेभ्यश्च रक्षितः।
जायते समये रिक्ते व्यसनानि स्फुरन्ति तु॥ ६७॥
आधारं नोपयुक्तं चेल्लभते मतिरप्यतः।
कुकल्पनाऽभिलग्नास्यात्पथभ्रष्टस्ततो भवेत्॥ ६८॥

टीका—योजनाबद्ध दिनचर्या अपनाकर, जो अनवरत परिश्रम में लगे रहते हैं, उनका स्वास्थ्य सुदृढ़ रहता है, बुद्धिमत्ता बढ़ती है, बुराइयों से बचे रहने का अवसर मिलता है। खाली समय में दुर्व्यसन ही बन पड़ते हैं और मस्तिष्क के लिए कुछ उपयुक्त सोचने का यदि कोई आधार न हो तो वह कुकल्पनाओं में लग पड़ता है और मनुष्य पथभ्रष्ट हो जाता है॥ ६६-६८॥

कुविचारा भवन्त्येते घातकास्तु तथा यथा।
कुकर्माणि कृतान्यत्र तस्मादेतान्न चिंतयेत्॥ ६९॥
छुरिका जीर्णतां याति या हि नैवोपयुज्यते।
नैष्कर्म्यं पुरुषो याति पशुर्वा चेष्टते न यः॥ ७०॥
स्वाभिर्विशेषताभिश्च हीनो भवति स क्रमात्।
अभिशापैरतश्चैभिरात्मानं रक्षितुं नरैः॥ ७१॥
उपयोगिश्रमेष्वेतच्छरीरमुपयुज्यताम्।
स्वाध्यायैः सद्विचारैश्च सत्संगेन मनोऽपि च॥ ७२॥
भवेत्कार्यरतं नित्यं मनोयोगेन कर्मणाम्।
कृतानां श्लाघ्यतां याति स्वरूपं सन्ततं स्वतः॥ ७३॥

उपेक्षयाऽस्थिरेणापि मनसा वा कृतानि तु।
कार्पण्यसंगतानीव जायन्ते नापि स तथा॥ ७४॥
लाभ आसाद्यते यद्वन्मनोयोगकृतैर्भवेत्।
सामर्थ्याच्छ्रमशीलत्वं महत्त्वेनातिरिच्यते ॥ ७५॥

टीका—कुविचार भी कुकर्मों की तरह ही घातक होते हैं, अतः इनका चिंतन नहीं करना चाहिए। बेकार पड़े चाकू को जंग खा जाती है। बैठा-ठाला मनुष्य या पशु धीरे-धीरे निकम्मा बनता जाता है और अपनी सहज विशेषताओं से हाथ धो बैठता है। इन अभिशापों से बचने के लिए हर समझदार व्यक्ति को अपना शरीर उपयोगी श्रम में लगाए रहना चाहिए। मन को सद्विचारों से, स्वाध्याय और सत्संग के सहारे कार्यरत रखे रहना चाहिए। कामों को मनोयोगपूर्वक करने से उनका स्वरूप प्रशंसनीय बन जाता है, इसके विपरीत उपेक्षा और अन्यमनस्कता पूर्वक किए गए काम बेतुके होते हैं तथा उनसे वैसा लाभ नहीं मिलता जैसा कि मनोयोगपूर्वक करने से मिल सकता था। क्षमता से भी अधिक महत्त्व श्रमशीलता का है॥ ६९-७५॥

साहसं तत्पराक्रमोऽप्याशायुक्तमनः स्थितिः।
पराक्रमोऽस्ति योग्याश्च नरास्ते साहसं विना॥ ७६॥
न शक्नुवन्ति कार्याणि कर्तुं तानि महान्ति ते।
अविकासस्थितावेव तिष्ठन्त्यवसरेऽपि च ॥ ७७॥

टीका—साहस भी पराक्रम है। आशान्वित रहना पराक्रम है। अनेक सुयोग्य और समर्थ व्यक्ति साहस के अभाव में बड़े काम नहीं कर पाते और अवसर रहते हुए भी पिछड़ेपन की स्थिति में पड़े रहते हैं॥ ७६-७७॥

श्रेष्ठाः परंपरा ग्राह्या न च कुप्रचलानि तु।
स्वीकार्याणि न चानीतिः कार्या सह्याऽपि वा पुनः ॥ ७८ ॥
अवाञ्छनीयता-नाशं कर्तुं संघर्षशीलता ।
तथैव पुण्यदा पुण्यं नीतिन्यायार्जनं यथा ॥ ७९ ॥
अनीतिपीडितोद्धारस्तथा श्लाघ्यो यथा च तत्।
पीडितोद्धारसाहाय्यं कष्टदूरकरं नृणाम् ॥ ८० ॥

टीका—कुप्रचलनों को स्वीकार न किया जाए। मात्र श्रेष्ठ परंपराएँ ही अपनाई जाएँ। अनीति न करें और न अनीति सहें। अवांछनीयताओं का विरोध, उन्मूलन करने के लिए संघर्ष करना भी उतना ही बड़ा पुण्य है, जितना कि नीति-न्याय को अर्जित करना। अनीति के उत्पीड़ितों को बचाना भी उतना ही सराहनीय है, जितना कि दुखियों की उदार सहायता करके, उन्हें कष्टों से निवृत्ति दिलाना॥ ७८-८० ॥

पराक्रमश्च सौजन्यं विपरीतमिव द्वयम्।
भिन्नं प्रतीयमानं तदवच्छिन्नं परस्परम्॥ ८१ ॥
रहस्यं नव्यरूपेण श्रोतृभिस्तत्श्रुतं समैः।
द्वयोर्महत्त्वमादातुं प्रयोक्तुं च समं द्वयम्॥ ८२ ॥
सहमतिं स्वां समे व्यक्तां व्यधुः पूर्णतया नराः।
युगनिर्माणेपंथाश्च दृष्टस्तैः सम्मुखे स्फुरन्॥ ८३ ॥
सत्रे विसर्जिते सर्वेऽप्यभिवादनपूर्वकम्।
मनीषिणः प्रयान्तस्ते सार्थक्येऽस्य समेऽप्यलम्।
अन्वभूवँश्च सन्तोषं हर्षं प्राप्येव सन्निधिम्॥ ८४ ॥

टीका—सौजन्य और पराक्रम एकदूसरे से भिन्न एवं विपरीत जैसे लगते हैं, पर वे दोनों किस प्रकार परस्पर अविच्छिन्न हैं, इस

मार्गेषु विविधेष्वेव स्थानेष्वेभिः स्थितेस्तथा।
जनसंपर्ककार्यस्य समस्यानां समाहितेः ॥ ७॥
धर्मचैतन्यगा वातावृतेरपि विनिर्मितेः।
लाभः प्राप्तो ह्यनेकानां पुण्यानामपि तैरिह॥ ८॥
श्रेयोऽस्य ददति स्म ते सर्वमायोजनस्य तु।
व्यवस्थापकवर्गेभ्यः संतुष्टाः पूर्णतः समे॥ ९॥
निवर्तनस्य कालेऽथ भिन्नैः पथिभिरेव च।
यातुं क्षेत्रेषु भिन्नेषु धर्मश्रद्धाकरा अपि॥ १०॥
कार्यक्रमा मतौ तेषामुद्भवंति स्म संततम्।
कर्मठत्वकषग्राव-तुल्या लोकहिताऽऽवहाः॥ ११॥
प्रारब्धो नियते काले दिनस्याऽस्य पुरोगमः।
प्रश्नानां शृंखलायाश्च सोपानं चरमं त्विदम्॥ १२॥
जिज्ञासूनां वरिष्ठश्च सोऽनुरोधं व्यधात्स्वयम्।
अध्यक्षं चरमं युग्मं वक्तुं धर्मधृतेः शुभम्॥ १३॥

टीका—आज संत-समागम सत्र का अंतिम दिन था। नैमिषारण्य में एकत्रित दूर-दूर से आए हुए मुनि-मनीषी यह सोचकर उदास थे कि कल यह समारोह समाप्त हो जाएगा। उन्हें अपने-अपने क्षेत्रीय उत्तरदायित्व सँभालने के लिए तथा पृथ्वी को देवताओं का स्वर्ग बनाने के लिए जाना पड़ेगा। साथ-साथ रहकर इन सात दिनों में जो आनंद उठाया, अमृत कमाया वैसा सुयोग फिर न जाने कब कहाँ मिलेगा ? उदासी इसी बात की थी। वैसे वे सभी इस आयोजन के लिए लंबी कष्टसाध्य पदयात्राएँ करते हुए आने पर भी बहुत प्रसन्न थे। मार्ग में उन्हें अनेक स्थानों पर ठहरने, जनसंपर्क, साधने-समस्याओं के समाधान करने एवं धर्मचेतना का वातावरण बनाने जैसे अनेक

रहस्य को श्रवणकर्त्ताओं ने नए रूप में समझा। वे दोनों को समान महत्त्व देने और साथ-साथ प्रयोग में लाने के लिए पूर्णतया सहमति व्यक्त करने लगे। युग निर्माण का मार्ग उन्हें स्पष्ट रूप से दीखने लगा। सत्र विसर्जित हुआ। अभिवादनपूर्वक विदा लेते हुए सभी मनीषियों को इस सुयोग की सार्थकता पर बड़ा हर्ष और संतोष अनुभव हो रहा था, मानों कोई श्रेष्ठ निधि हाथ लग गई हो॥ ८१-८४॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री आश्वलायन-आरुणि ऋषि संवादे 'सौजन्य-पराक्रम,' इति प्रकरणो नाम ॥ षष्ठोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः॥

सहकार-परमार्थ प्रकरण

अन्त्योऽद्य दिवसः सोऽयं सत्समागमसत्रजः।
नैमिषे दूरदेशेभ्यः संगतास्ते मनीषिणः॥ १॥
मुनयः सर्व एवैत औदास्यमभजन्निह।
विचारयन्तः सत्रस्य श्वोऽवसानं तु दुःसहम्॥ २॥
दायित्वानि ग्रहीतुं च स्वानि गंतव्यमेव तैः।
स्वस्वक्षेत्रेषु भूलोके विधातुं स्वर्गिणां गृहम्॥ ३॥
उषित्वा सह सर्वैस्तु दिवसेष्वेषु सप्तसु।
लब्धो यः परमानन्दः प्राप्तं पीयूषमुत्तमम्॥ ४॥
संयोगस्तादृशः कुत्र प्राप्स्यतेऽस्माभिरुत्तमः।
नैव जानीम इत्येतत्कारणं तस्य मुख्यतः॥ ५॥
आयोजनस्य हेतोश्च सर्वे याताः प्रसन्नताम्।
पदयात्रा विशालास्ताः कुर्वन्तः कष्टदा अपि॥ ६।

पुण्य-परमार्थों का लाभ भी तो मिला था। इसका श्रेय इस आयोजन की व्यवस्था करने वालों को ही परम संतुष्ट होकर वे दे रहे थे। वापस लौटते हुए दूसरे मार्ग से जाने और अन्यान्य क्षेत्रों में धर्मश्रद्धा उत्पन्न करने वाले कार्यक्रमों की योजनाएँ उनके मस्तिष्क में उठ रही थीं। जो उनकी कर्मठता के लिए कसौटी के पत्थर के समान व लोक हितकारी थीं। नियत समय पर पिछले दिनों की भाँति ही इस दिन का आयोजन भी शुरू हुआ। प्रश्नों की शृंखला का आज अंतिम सोपान था। जिज्ञासुओं में वरिष्ठ जरत्कारु ने धर्मधारणा के अंतिम सुंदर युग्म पर प्रकाश डालने का अनुरोध करते हुए सत्राध्यक्ष से कहा— ॥ १-१३ ॥

जरत्कारु उवाच—

समन्वयः कथं देव ! परार्थसहकारयोः।
उभयोरैक्यतस्तथ्यमेकं कस्मात्प्रजायते ॥ १४ ॥
अस्मान् बोधयितुं सर्वं रहस्यमिदमुत्तमम्।
अनुग्रहो विधातव्यो भवद्भिः करुणापरैः ॥ १५ ॥

टीका—जरत्कारु ने कहा—हे देव ! सहकार और परमार्थ का समन्वय कैसे होता है ? दोनों के मिलने से एक तथ्य कैसे बनता है ? हे दयानिधे ! इस रहस्य को समझाने का अनुग्रह करें ॥ १४-१५ ॥

आश्वलायन उवाच—

युग्मे पञ्चमके बद्धाविमौ द्वौ तु परस्परम्।
सहकारपरार्थाख्यावुदारत्वाभिबोधकौ ॥ १६ ॥
जायते व्यापकक्षेत्रे यदाऽऽत्मीयत्वविस्तरः।
आत्मवत् सर्वभूतेषु भावनोदेति तत्र च ॥ १७ ॥
उदेत्युदारविश्वासो वसुधैव कुटुंबकम्।
इतिरूपे सहास्तित्वं सहभुक्तिरुपैत्यलम् ॥ १८ ॥

टीका—आश्वलायन जी बोले—पंचम युग्म में सहकार एवं परमार्थ जुड़े हुए हैं, जो उदारता के बोधक हैं । आत्मीयता का विस्तार जब व्यापक क्षेत्र में होता है, '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' की भावना जगती है और '**वसुधैव कुटुंबकम्**' का उदार विश्वास विकसित होता है, तभी मिल-जुलकर रहना और मिल-बाँटकर खाने का व्यवहार चरितार्थ होता है ॥ १६-१८ ॥

माहात्म्यं सहकारस्य वदंतस्तेब्रुवञ्जनान्।
प्राणी सामाजिको नूनं मानवोस्ति न संशयः ॥ १९ ॥
प्रगतिः स्थैर्यमस्यास्तः सहकारसमाश्रिते।
समाजेन कुटुंबेन शासनेनापि संततम् ॥ २० ॥
समूहवादिनीशिक्षा लभ्यते मानवेन तु।
एकाकित्वं कीटकानां कृमीणां प्रकृतिर्मता ॥ २१ ॥

टीका—सहकार की महिमा बताते हुए उन्होंने कहा— 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है।' उसकी स्थिरता और प्रगति सहकार पर ही निर्भर करती है। परिवार, समाज और शासन के माध्यम से मनुष्य को समूहवादी बनने की शिक्षा मिलती है। एकाकीपन कृमि-कीटकों का स्वभाव है ॥ १९-२१ ॥

अल्पं विकसिता ये तु पशवः पक्षिणोऽपि ते।
समूहे निवसन्त्येवं पालयंत्यनुशासनम् ॥ २२ ॥
वल्मीककीटा यद्येते एताश्च मधुमक्षिकाः।
पिपीलिकाश्च गृह्णन्ति सहकारं भवन्त्यपि ॥ २३ ॥
सुखिनोऽपेक्षयाऽन्येषामुन्नतस्थितिगास्तथा ।
तिष्ठेयुर्मानवास्तर्हि कथं निम्नस्थितिस्थिताः ॥ २४ ॥

टीका—थोड़ा-सा विकास जिनका हुआ है, वे पशु-पक्षी भी समूह बनाकर रहते हैं और तदनुसार अनुशासन पालते हैं। जब दीमक, चींटी और मधुमक्खी जैसे प्राणी सहकारिता अपनाते और अपेक्षाकृत अधिक सुखी-समुन्नत स्थिति में रहते हैं तो मनुष्य को ही क्यों पीछे रहना चाहिए? ॥ २३-२४ ॥

मानवस्य समस्तायाः प्रगतेः सर्वमेव हि ।
रहस्यं सहकारस्य भावनायां स्थितं ध्रुवम् ॥ २५ ॥
अस्तव्यस्तस्थितैर्नैव तृणै रज्जुविनिर्मितिः ।
संभवाऽस्ति न निर्मातुं शक्या सम्मार्जनी दृढा ॥ २६ ॥
शलाकाभिः नरैरत्र पतिताभिरितस्ततः ।
इष्टिकाश्चेत्पृथक् स्युस्ताः कथं गृहविनिर्मितिः ॥ २७ ॥
संभवा मौक्तिकैर्माला ग्रथितैरेव जायते ।
समूह एवं सैन्यानां शत्रून् विजयते ध्रुवम् ॥ २८ ॥
सहकारस्वभावेन मर्त्यानां सुखदायिनी ।
कुटुंबरचना जाता भुवि स्वर्गायिता नृणाम् ॥ २९ ॥
समाजो निर्मितोऽथापि राष्ट्रसंघटनं वरम् ।
जातं, संघटनानां च विविधानामिह ध्रुवम् ॥ ३० ॥
माध्यमेन हि जातानि कार्याण्याशु महान्त्यपि ।
रामः कृष्णोऽथ बुद्धोऽयुः साफल्यं सहयोगिभिः ॥ ३१ ॥

टीका—मनुष्य की प्रगति का सारा रहस्य उसकी सहकार भावना में सन्निहित है। बिखरे तिनकों से रस्सा नहीं बटा जा सकता। बिखरी सींकों से बुहारी नहीं बनती। ईंटें अलग-अलग रहें तो भवन कैसे बने? मोतियों के मिलने से ही हार बनता है। सैनिकों का समूह ही

शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। मनुष्य के सहकार, स्वभाव से ही परिवारों की स्वर्गोपम सुखद सरंचना हुई है, समाज बना है, राष्ट्रों का गठन हुआ है। विभिन्न संगठनों के माध्यम से ही महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए। राम, कृष्ण और बुद्ध ने सहयोगियों की सहायता से ही आश्चर्यजनक सफलता पाई॥ २५-३१॥

सेनासंयुक्तशक्तिः सा कुरुते कार्यमुत्तमम्।
कुटुम्बं संघटितं नूनं समाजोऽपि तथा च सः॥ ३२॥
वृद्धिं यातोऽथ मर्त्याश्च वियुक्ता यान्ति विग्रहम्।
वैरं भेदं सहन्ते न प्रातिकूल्यं मनागपि॥ ३३॥
यान्त्येवाकालजं मृत्युमतो ज्ञातव्यमेव तु।
माहात्म्यं संघजोत्थं तु प्राणिमंगलकारकम्॥ ३४॥

टीका—सेना की संयुक्त शक्ति ही काम करती है। संगठित परिवार और समाज फलते-फूलते हैं; जबकि विलगाव से आक्रांत भेद, फूट, फसाद में लगे हुए तनिक भी प्रतिकूलता सहन नहीं कर पाते और बेमौत मरते हैं। संगठन का महत्त्व समझा जाना चाहिए, जो प्राणिमात्र का मंगलकारक है॥ ३२-३४॥

स्वार्थिवर्गः सदा दोषग्रस्ततां याति संततम्।
तत्प्रभावेण जीर्णश्च विना कालं विनश्यति॥ ३५॥
अतो विचारशीलैश्च वसितव्यं सुसंगतैः।
भोक्तव्यं च सदा भोज्यं यथायोग्यं विभज्य च॥ ३६॥
दूरदर्शित्वमत्रास्ति गरिमा च नृणां ध्रुवम्।
कुर्वते सहयोगं ते सहयोगिन उन्नताः॥ ३७॥
वसन्ति मोदमानाश्च तेभ्यः क्षुद्रेभ्यः एव ते।
प्रसन्नाश्चाधिकं तस्मात्सहयोगो महाबलम्॥ ३८॥

टीका—स्वार्थियों का समुदाय दोष-दुर्गुणों से ग्रसित होता जाता है और उनके दबाव के कारण समय से पूर्व ही दम तोड़ते देखा जाता है। अस्तु, सभी विचारशीलों को हिलमिल कर रहना चाहिए, मिल-बाँटकर खाना चाहिए। इसी में दूरदर्शिता एवं गरिमा है। सहयोग करने वाले सहयोग पाते हैं और एकाकीपन की क्षुद्रता अपनाने वालों की तुलना में कहीं अधिक प्रसन्न एवं समुन्नत रहते हैं। अतः स्पष्ट है सहयोग में बहुत बड़ी शक्ति है॥ ३५-३८॥

निरमात्सहयोगेन समुदायं तथा व्यधात्।
मिलित्वा शुभकर्माणि दानादानेऽध्यगादपि॥ ३९॥
आदिकालात्क्रमादत्र प्रगतेः पथिसंचलन्।
आगतो वर्तमानां च स्थितिं विकसितां पराम्॥ ४०॥
सहकारप्रधानश्च स्वभावोऽत्र विशिष्यते।
नैकाकिनो महामर्त्या न्यवात्सुः कुत्रचिद् भुवि॥ ४१॥
निर्ममुस्ते समूहं तु प्रयासैश्च समूहगैः।
संकल्पाः सुमहांतस्तैः पूरिताः शीघ्रमेव च॥ ४२॥
सत्प्रयोजनहेतोश्च सहकारः स्थिरो दृढः।
प्राप्यते येषु लोकस्य हितं कर्मसु संस्थितम्॥ ४३॥
यथा तथोदयं याति सहयोगस्य शोभना।
लोकश्रद्धा जगत्पीडा-तमिस्रा-चंद्रिका शुभा॥ ४४॥

टीका—इसीलिए मनुष्य ने सहयोगपूर्वक समुदाय गठित किए। मिल-जुलकर काम करना सीखा। आदान-प्रदान का क्रम अपनाया और अनादिकाल से लेकर क्रमशः प्रगति-पथ पर चलता हुआ वर्तमान स्थिति तक आ पहुँचा। इसमें उनके सहकार प्रधान स्वभाव का ही चमत्कार है। महामानव एकाकी नहीं रहे। उनने समूह बनाए और

सामूहिक प्रयासों के बल पर बड़े संकल्प शीघ्र पूरे किए हैं। ठोस और स्थायी सहकार सत्प्रयोजनों के लिए ही मिलता है। जिन कार्यों के पीछे लोकहित का जितना समावेश रहता है, उनमें सहयोग देने भी लोकश्रद्धा उतनी ही उमड़ती है, जो संसार की व्यथारूपी रात्रि में चंद्रिका के उदय के समान सिद्ध होती है॥ ३९-४४॥

स्वस्मै वर्गविशेषाय स्वार्थबुद्ध्या च यानि तु।
क्रियन्ते तानि कार्याणि मन्यन्ते स्वार्थगानि हि॥ ४५॥
विचारयंति येषां स लाभस्ते पुरुषाः स्वयम्।
श्रमं कुर्वन्तु किं तैश्च परेषां हि प्रयोजनम्॥ ४६॥
परं न्यायस्य यत्राऽयमौचित्यस्य तथैव च ।
साहाय्यस्यार्तिजानां च प्रश्नः सन्तिष्ठते पुरः॥ ४७॥
चित्तं तत्र समेषां हि योगदानाय संततम्।
समुत्सहत एवात्र सर्वकल्याणकाम्यया ॥ ४८॥
रीतिर्नीतिरिमेऽभूतां महतां भुवि सर्वथा।
सहकारमहत्त्वं तैर्ज्ञातं सर्वं सुखावहम्॥ ४९॥
स्वभावं ते चरित्रं च योग्यं व्यक्तिगतं तथा ।
व्यधुस्तैषां च प्रामाण्ये विश्वसेयुर्जनाः समे॥ ५०॥
कार्याणि यानि तैरत्र हस्तगानि कृतानि तु।
अभूवंस्तानि सर्वाणि नूनं लोक-हितान्यलम्॥ ५१॥

टीका—निजी अथवा वर्ग स्वार्थ के लिए जो काम किए जाते हैं, उन्हें लोग स्वार्थ प्रेरित मानते हैं और सोचते हैं, जिनका लाभ है, वे ही श्रम करें, अन्यों को उनसे क्या प्रयोजन ? पर जहाँ न्याय का, औचित्य का, पीड़ितों की सहायता का प्रश्न आता है, वहाँ सभी का

मन, सभी की कल्याणकामना से उनमें योगदान करने के लिए उमँगता है। महामानवों की रीति-नीति यही रही है। उनने सभी के लिए सुखकर सहकार का महत्त्व समझा है। व्यक्तिगत स्वभाव और चरित्र को इस योग्य बनाया है कि लोग उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास कर सकें। उनने जिन भी कामों में हाथ डाला, वे सभी ऐसे थे, जिनके साथ लोकहित जुड़ा रहा॥ ४५-५१ ॥

स्वार्थसिद्धये दलानां निर्मातारो भवंत्यपि।
दुरात्मानो दुराचारा दुष्टास्ते कूटयोधिनः ॥ ५२ ॥
षड्यंत्राणि बहून्यत्र कर्तुं दुरभिसंधकाः।
पार्श्वगां समितिं चण्डां कुटिलां स्थापयन्त्यपि॥ ५३ ॥
दुःसहंते तथैतेभ्यः म्रियंते घ्नन्ति चापरान्।
एतादृशानां यत्नानामुद्दंडानां विधीयते ॥ ५४ ॥
चर्चा यद्यपि सर्वत्र जनैः शुद्धेन चेतसा।
नैताञ्जनाः प्रशंसन्ति न चैभिः सहयुञ्जते॥ ५५ ॥
अत एवं विधान्यत्र साफल्यानि नृणामपि।
सामान्यानां हि दृष्टौ तान्युपेक्षाण्येव सन्ति तु॥ ५६ ॥
साफल्यानि प्रशंसन्ति तानि नो केचिदत्र तु।
एतादृश्यां दशायां ते गण्यंते खलनायकाः ॥ ५७ ॥
सदाचारयुताः सन्ति महामानवतां गताः।
सतां सभां विनिर्मान्ति सम्मिलन्ति च तत्र वा॥ ५८ ॥
विचारयन्ति यच्चाऽपि कुर्वते यच्चनिश्चितम्।
समाविष्टं भवेल्लोकहितं गहनमद्भुतम् ॥ ५९ ॥

टीका—स्वार्थसिद्धि के लिए गिरोह बनाने वाले तो अनेक दुष्ट, दुरात्मा कुचाली और कुचक्री भी होते हैं। वे षड्यंत्र रचने और दुर्भिसंधियाँ करने के लिए चांडाल-चौकड़ियाँ खड़ी करते रहते हैं, इसके लिए दुस्साहस भी करते हैं। मारने के साथ-साथ मरते भी हैं। ऐसे उद्दंड प्रयत्नों की चर्चा तो लोग भारी मन से करते हैं, पर उनकी कोई प्रशंसा नहीं करता, न कोई सच्चे मन से समर्थन करता न कोई सच्चे मन से सहयोग ही देता है। अतएव इस स्तर की मिली हुई सफलताएँ भी सर्वसाधारण की दृष्टि में उपेक्षित ही बनी रहती हैं, उन्हें कोई सराहता नहीं। ऐसी दशा में कर्त्ताओं की खलनायकों में ही गणना होती है। महामानव चरित्रवान होते हैं, सज्जनों का संगठन खड़े करते या उनमें सम्मिलित रहते हैं; जो सोचते और करते हैं, उनमें अद्भुत लोकहित का समावेश रहता है॥ ५२-५९॥

सत्प्रयोजनहेतोश्च व्यक्तिभ्यस्त्वर्पितानि तु।
योग्येभ्यस्त्वनुदानानि प्रत्यायान्ति प्रयच्छतः॥ ६०॥
असंख्यतां गतान्येव प्रियंग्वादीनि तानि तु।
वप्तुरायान्ति शस्यानि सहस्रत्त्वं गतानि च॥ ६१॥

टीका—सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक व्यक्तियों के हाथ में सौंपे गए अनुदान असंख्य गुने होकर देने वाले के पास वापस लौटते हैं। मक्का, बाजरा आदि के बीज उगने पर सहस्रों गुने होकर बोने वाले के पास वापस लौटते हैं॥ ६०-६१॥

श्रमस्यापि धनस्याथ बीजानीशस्य तस्य तु।
क्षेत्रे परार्थरूपे च वपन्त्य जनास्तु ये॥ ६२॥
लाभ एव भवेत्तेषां मर्त्यसद्वृत्तिवर्धने।
पाताऽविकासपीडानां वारणे संपदामथ॥ ६३॥

क्षमतायाश्च तस्यास्तु समुत्सर्गः सदा नरैः।
अंशस्य महतः कार्य आत्मा तेन प्रसीदति॥ ६४॥
योऽर्जयेत्केवलं स्वस्मै भुंक्ते चाऽपि तु केवलम्।
स्तेनमाहुर्नरं तं तु सदैकांतगतिं ततः॥ ६५॥

टीका—परमार्थी ईश्वर के खेत में अपने श्रम तथा धन का बीज बोते हैं। इस व्यवसाय में लाभ-ही-लाभ है। मनुष्य को सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के लिए पतन, पीड़ा और पिछड़ापन हटाने के लिए अपनी क्षमता और संपदा का बड़ा भाग उत्सर्ग करना चाहिए, इससे आत्मा तृप्त होती है। जो अपने लिए ही कमाता है, आप ही खाता है, उसे चोर कहा गया है, चोर भी एकांतप्रिय होता है॥ ६२-६५॥

वर्षन्ति वारिदा नित्यं निःस्वार्थं सरितोऽपि च।
भूखंडान् प्राणिनस्तप्तान् कुर्वते जलसंपदा॥ ६६॥
वृक्षाः फलंति यच्छन्ति मेषा ऊर्णां ददत्यलम्।
भूमिरुत्पादयत्यन्नमेवं यच्छत्स्वपि क्वचित्॥ ६७॥
नानुदानेषु चैतेषां न्यूनता काऽपि जायते।
हस्तेनैकेन यो दद्यादीशः प्रतिददात्यलम् ॥ ६८॥
तस्मै हस्तेन चान्येन स आदत्ते वरानिव।
अदातारस्तु शुष्यन्ति म्लायन्त्यम्भोऽवपल्वलम् ॥ ६९॥
निर्झरा यद्यपि स्वल्पा वहन्तो विशदाः सदा।
तिष्ठन्त्येते नरैर्भाव्यमुदारैः परमार्थगैः ॥ ७०॥

टीका—बादल निस्स्वार्थ भाव से बरसते हैं। नदियाँ अपनी जल संपदा से भूखंडों और प्राणियों की प्यास बुझाती हैं। वृक्ष फल देते हैं। भेड़ें ऊन देती हैं। भूमि अन्न उपजाती है। इन अनुदानों को निरंतर देते रहने पर भी उन्हें कोई घाटा नहीं पड़ता। एक हाथ से

देने पर वरदान की तरह भगवान उन्हें प्रतिदान देता भी रहता है, जिन्हें उसका दूसरा हाथ ग्रहण करता रहता है। जो नहीं देता, वह छोटे पोखरों के जल जैसा सूखता और सड़ता है, जबकि छोटे निर्झर भी सदा बहते और स्वच्छ रहते हैं। अतः मनुष्य को उदार व परमार्थपरायण होना चाहिए॥ ६६-७०॥

जलचक्रे शरीरस्य चक्रेऽथे प्रकृतेरपि।
आदानस्य प्रदानस्य पारंपर्यं तु विद्यते॥ ७१॥
दानं योऽवरुणद्ध्यत्र नैति संपन्नतां क्वचित्।
विपरीततया नश्येत् ग्लायति प्रतिवासरम्॥ ७२॥
संकीर्णत्वं च भीरुत्वं कृपणत्वमथापि च।
सृष्टिव्यवस्थितेरस्ति पूर्णतस्त्ववहेलनम् ॥ ७३॥
स्वीकृत्येमानि लाभस्य ये चाशां कुर्वते नराः।
अदूरदर्शिनो हानिं यान्ति शोचन्ति चान्ततः॥ ७४॥

टीका—शरीरचक्र, जलचक्र और प्रकृतिचक्र में आदान-प्रदान की परंपरा है, जो देना बंद करता है वह संपन्न तो बनता नहीं उलटे सड़ता और नष्ट होता देखा जाता है। संकीर्णता, कृपणता और कायरता सृष्टि व्यवस्था की अवहेलना है। इन्हें अपनाकर जो लाभ की बात सोचते हैं, वे अदूरदर्शी बहुत घाटा सहते और अंततः बुरी तरह पछताते हैं॥ ७१-७४॥

उदारात्मीयताऽऽदानात्परार्थैकपरायणात् ।
दृष्ट्या व्यापकया चात्मा विकासं याति हर्षितः॥ ७५॥
वैभवं कृपणानां तु दुर्गतिग्रस्ततां व्रजेत्।
यत्र तिष्ठेद् ग्लापयेत्तत्तीक्ष्णाम्ल इव संततम् ॥ ७६॥

नश्येद् येन समूलं तदुच्यतां बौद्धिको भ्रमः।
नृणामेष यदिच्छन्ति क्षमतां सञ्चितां निजाम् ॥ ७७ ॥
लाभं तस्य च वाञ्छन्ति दातुमल्पेभ्य एव तु।
पार्श्वस्थेभ्यो मता मूर्खाः कुशला अपि चान्ततः ॥ ७८ ॥

टीका—आत्मा का विकास उदार आत्मीयता, परमार्थपरायणता और व्यापक दृष्टिकोण अपनाए रहने में है। कृपणों का वैभव दुर्गतिग्रस्त होता है और जहाँ भी वह ठहरता है, तेज अम्ल की तरह उसे गला-जलाकर समाप्त कर देता है। इसे मतिभ्रम ही कहना चाहिए कि लोग अपनी क्षमता को संचित करके रखना चाहते हैं और उसका लाभ कुछ थोड़े से ही समीपवर्ती लोगों को देना चाहते हैं। इस नीति के अपनाने में चतुरता अनुभव करने वाले लोग अंततः मूर्खों के समूह में गिने जाते हैं ॥ ७५-७८ ॥

उदारमानसैर्लोकैर्बहु विश्वाय चाऽर्पितम्।
दानमेकं समर्प्यासावनुदानानि विंशतिम् ॥ ७९ ॥
अधिगंतुमभूदर्हो नात्मसंतोष आप्यते।
लोकमानं तथा दैवोऽनुग्रहो मानवैः समैः ॥ ८० ॥
उदारमानसाः सन्ति ये मतास्तेऽधिकारिणः।
दैवानामनुदानानामुदारा ये नराः स्वयम् ॥ ८१ ॥
तेषु वर्षति चौदार्यं विश्वस्यापि नरेष्वलम्।
कृपणेषु समाजस्य प्रभोः कोपश्च वर्षति ॥ ८२ ॥
पापकृत्यमिदं प्राहुः संसारक्रमपद्धतौ।
व्यतिरेकसमुत्पादितया दुर्गतिकं नृणाम् ॥ ८३ ॥

टीका—उदारमना लोगों ने विश्व-वसुधा को बहुत कुछ दिया है। जिसने जितना दिया है, वह उसी अनुपात में 'एक दान के बदले

बीस अनुदान' अर्जित करने में सफल हुआ है। आत्मसंतोष, लोक-सम्मान और दैवी अनुग्रह हर किसी को नहीं मिलते। इन दैवी अनुदानों के अधिकारी मात्र उदारमना ही होते हैं। जो स्वयं उदार हैं, उसी पर संसार की उदारता बरसती है। कृपणता अपनाने से समाज भी रुष्ट रहता है। और भगवान का कोप भी बरसता है। यह संसारक्रम में व्यतिरेक उत्पन्न करने के कारण तथा मनुष्यों की दुर्गति करने वाला होने से पापकृत्य माना गया है॥ ७९-८३॥

मूल्यं धर्मधृतेरात्मप्रगतेश्चैवमेव हि।
निश्चीयते नरेणात्मजीवने कियती च सा॥ ८४॥
गृहीतोदारता चाथ परार्थाभिरतिस्तथा।
दर्शिता स्वर्गमुक्त्यात्मं फलं तत्र फलेत्तरौ॥ ८५॥

टीका—धर्मधारणा और आत्मिक प्रगति का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाता है कि अपने जीवनक्रम में कितनी उदारता अपनाई और परमार्थपरायणता दर्शाई। स्वर्ग और मुक्ति का पुण्य प्रतिफल इसी परमार्थपरायणता के वृक्ष पर लगता है॥ ८४-८५॥

धर्मस्य धारणायाश्च युग्मैरन्यैः समं समे।
जानन्तु पंचमं युग्मं महत्त्वमहितं भुवि॥ ८६॥
धर्म आचरणस्यापि विषये विद्यते यतः।
क्रियायां परिणतं ते च कुर्वते मानवास्ततः॥ ८७॥
कथनेनाऽथवा लोके श्रवणेन तु केवलम्।
प्राप्यते ज्ञानमात्रं तु दिशाबोधश्च जायते॥ ८८॥
धर्मचर्चाऽनिवार्याऽतः समैरेव मता परम्।
पर्याप्ता नैव नूनमाचारेण विना भुवि॥ ८९॥

टीका—धर्मधारणा के अन्य चार युग्मों की भाँति यह पाँचवाँ युग्म भी अतीव महत्त्वपूर्ण है। धर्माचरण का विषय है। उसे कर्म में परिणत किया जाता है। कथन-श्रवण से तो जानकारी प्राप्त होती और दिशामात्र मिलती है। अतएव धर्मचर्चा को आवश्यक तो समझा गया है, पर उसे आचरण में लाए बिना पर्याप्त नहीं माना गया॥ ८६-८९॥

सत्रे समाप्ते सर्वेऽपि जनास्ते तु परस्परम्।
आलिलिंगुर्गृहीत्वा च गले रोमांचिताः समे॥ ९०॥
सत्राध्यक्षं प्रणेमुस्ते यो ववर्षामृतं वचः।
आगतेभ्यश्च धर्मस्य धारणाया महत्त्वगम्॥ ९१॥
तत्त्वज्ञानं सगाम्भीर्यं बोधयामास यत्नतः।
सर्वेगन्तुं द्वितीयेऽह्नि निजस्थानानि निश्चितम्॥ ९२॥
निजेष्वाचरणेष्वेव स्वरूपं शोभनं समे।
धर्मस्य धारणायास्ते निरचिन्वन् समाहितुम्॥ ९३॥
वातावृतौ सदुत्साहभरितायां तपोवने।
सत्रं समाप्तं तद्दिव्यं जयघोषपुरस्सरम्॥ ९४॥
भूयोऽपि चेदृशं दिव्यं भवेदायोजनं तथा।
तत्र सम्मिलिताः स्याम वाञ्छा चेतसि सोद्गता॥ ९५॥

टीका—सत्र समापन पर सभी उपस्थित जन गले मिले एवं हर्ष से गद्गद हो गए। सत्राध्यक्ष को नमन-अभिनंदन किया, जिनने ऐसी अमृतवर्षा की और आगंतुकों को धर्मधारणा के तत्त्वज्ञान को गंभीरतापूर्वक समझाने का सफल प्रयत्न किया। कल सभी को अपने-अपने स्थानों को जाना था। सबने अपनी-अपनी गतिविधियों में धर्मधारणा के इस स्वरूप को और भी अच्छी तरह समाविष्ट

करने का निश्चय किया। अत्यंत उत्साह के वातावरण में जयघोष के साथ तपोवन में आयोजित वह सत्र समाप्त हुआ। दूसरी बार फिर ऐसे ही आयोजन के होने और उसमें सम्मिलित होने की आकांक्षा सभी के मन में उठ रही थी॥ ९०-९५॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री आश्वलायन-जरत्कारु ऋषि 'संवादे सहकार-परमार्थ' इति प्रकरणो नाम ॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ युगदेव-स्तवन ॥

अहो तां गायत्रीमखिल-जगदानंद निलयाम्
उपास्या-ब्रह्मासावसृजदमलां सृष्टिमधिकाम्।
मता या वेदानामपि निखिल विश्वस्य जननी,
सुशान्त्यै शान्तां तां जपत मनुजा! देवजननीम्॥ १ ॥

समस्त जगत के आनंद की आधारभूत जिस गायत्री की उपासना करके ब्रह्माजी ने सृष्टि रची। जिसे वेदमाता, देवमाता व विश्वमाता कहा जाता है। हे मनुष्यो! अपार शांति के लिए शांतस्वरूप उस गायत्री को भजो, उसका जप करो॥ १ ॥

त्रयो लोका यस्याश्चरण वरणास्तेऽपि च समे,
त्रयो देवास्तिस्रः प्रथितविभवा देव्य इति सा।
त्रिवेणी व्याख्याताऽक्षरगण इहाख्यातिमभजत्,
चतुर्विंशत्याहु ऋषित्रिदश-दिव्यावतरणाः ॥ २॥

जिसके तीन चरणों को तीन लोक, तीन देव, तीन वैभवशाली देवी-त्रिवेणी कहते हैं। जिसके चौबीस अक्षर अवतारों, देवताओं, ऋषियों के रूप में प्रख्यात हुए॥ २ ॥

सुदेव्याः संस्कृत्या इहनिगदिता मूलमखिलं,
बुधाः प्राहुः यां चामृतममरवृक्षं परमणिम्।
शिखासूत्रे यस्या दधुरमृतचिह्नं जपत तां,
युगप्रज्ञोन्मेषप्रबलकरुणां सिद्धिजननीम् ॥ ३॥

जो देव संस्कृति की मूल है। जिसे पारस, कल्पवृक्ष और अमृत कहा जाता है, जिसे शिखा-सूत्र के रूप में धारण किया जाता है। जो अमृत तत्त्वदायी चिह्न है, ऐसी युग परिवर्तन का उन्मेष करने में अत्यंत करुणामयी सिद्धिदात्री गायत्री को जपो॥ ३ ॥

अहो आद्यां शक्तिं कलियुगकला विस्मृततनुम्,
उपेक्षाक्षीणां तामृतनिधिकां बुद्धिविभवाम्।
महाप्रज्ञो ह्येनां पुनरुदधरद्देवसदृश,
ऋतां तुभ्यं युगपुरुष ! नः सन्तु नतयः ॥ ४॥

उस आद्यशक्ति को काल-प्रवचना से विस्मृत रूप वाली, उपेक्षित हुई ऋतंभरा प्रज्ञा का जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन वंदन॥ ४॥

सदा भास्वान् भूत्वा तपति गगने यज्ञ इह यो,
भृशं पर्जन्योऽयं यमनुसततं वर्षति रसम् ।
य ओतः प्रोतश्च प्रबलतमतत्प्राणमरुता,
तदेतद्देवत्वं श्वसिति कृपया यस्य हि चितेः॥ ५॥

जो यज्ञ सूर्य के रूप में तपता है। जिसके प्रताप से पर्जन्य बरसते हैं। जो प्राण-ऊर्जा से ओत-प्रोत है। जिसकी चेतना से देवत्व जीवित है॥ ५॥

यदङ्के देवानां गण उदयमासाद्य लुठति,
भृशं पोषं प्राप्य प्रखरतरतां याति सततम्।
निधिर्ऋद्धेः सिद्धेरपि च कथिता यत्र वपुषि,
तदोजस्तेजस्त्वे वसत इह वर्चोऽभिलषति॥ ६॥

देवगण जिससे उदय प्राप्त करते है, जिसकी गोद में जन्मते, पलते, प्रखर होते और समर्पण करते हैं। जो ऋद्धि-सिद्धियों का भंडार है। जिसमें ओजस्, तेजस् और वर्चस् के सभी तत्त्व विद्यमान हैं॥ ६॥

तिरस्कारं यातो विकृतिमभजद्यः कलिबलात्,
उपेक्षां संप्राप्तोऽप्यहह निखिलारोग्यसदनम्।

अहो विष्णुं यागं पुनरुदधरद् यो बुधवर!,
प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष ! नः कोटिश इमे॥ ७॥

ऐसे कलि-विडंबना से उपेक्षित, तिरस्कृत, विकृत हुए आरोग्य के उत्पत्ति स्थल विष्णु रूप यज्ञ का जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का, उसके अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वंदन॥ ७॥

अहो विश्वस्तानामिव हि हृदयं यस्य सरसं,
सदास्ते भक्तानामिव गहनमाचिन्तनमपि।
सदाब्रह्मज्ञानामिव च चरितं तदृषि समं,
प्रणामास्तुभ्यं हे युग-पुरुष ! नः कोटिश इमे॥ ८॥

जिसका हृदय विश्वासी भक्त जैसा सरस, जिसका गहन चिंतन ब्रह्मवेत्ताओं जैसा, जिसका चरित्र ऋषियों जैसा, जो महाप्राज्ञ है, ऐसे युगपुरुष को हम करोड़ों भक्तों का प्रणाम॥ ८॥

उपास्ते य ईशं ह्याविरतमहो जीवनविधौ,
सदासक्ते लोकाधिक - सुखसमाराधनविधौ।
सदादर्शादर्शो भुवि विदित सत्सौख्य विभवः,
प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष ! नः कोटिश इमे॥ ९॥

जो ईश्वर उपासना, जीवन-साधना और लोक को सुखी करने की आराधना में संलग्न आदर्शों के लिए समर्पित स्वयं आदर्श (दर्पण) के समान हैं, उस महाप्राज्ञ युगपुरुष का, देव संस्कृति और उसके अनुचरों द्वारा कोटि-कोटि नमन-वंदन॥ ९॥

य उत्सेहे पातोन्मुखमनुजसत्संस्कृतिमहो,
निरोद्धुं नाशस्य प्रबलतमगर्तादनलसः।
दधीचेर्व्यासस्य परशुधर शृंगिप्रथितयोर्,
दधौ रूपं यस्त्वां युगनर ! नताः कोटिश इमे॥ १०॥

जिसने पतनोन्मुख मानवी संस्कृति को महाविनाश के गर्त से बचाने का आलस्य त्यागकर एकाकी साहस किया। जिसने दधीचि, व्यास, परशुराम, शृंगी, पिप्पलाद की भूमिका निभाई, हे युगपुरुष ! आपको कोटि-कोटि हम अनुचरों का प्रणाम॥ १०॥

सुरर्षिं यो वाजिश्रवसमपि कार्यादनुगतं,
ऋषिं विश्वामित्रं मुनिवर वशिष्ठं सगरजम्।
ज्वलन्दीपान् स्नेहोद्भरित हृदयोऽज्वालयदसौ,
महावर्चः सन्तु युगपुरुष ! तुभ्यं प्रणतयः॥ ११॥

जिसने नारद, वाजिश्रवा, ऋषि विश्वामित्र, मुनिवर वसिष्ठ व सगर-वंशज भगीरथ की भूमिका एकाकी निभाई। जिसने स्वयं ज्वलंत होकर, स्नेहयुक्त होकर अगणित दीप जलाए, उस साहस के धनी, ब्रह्मवर्चस से ओत-प्रोत महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वंदन॥ ११॥

*****

॥ महाकालाष्टकम् ॥

असम्भवं सम्भव-कर्त्तुमुद्यतं,
प्रचण्ड-झंझावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

यदा धरायामशान्तिः प्रवृद्धा,
तदा च तस्यां शान्तिं प्रवर्धितुम् ।
विनिर्मितं शान्तिकुञ्जाख्यतीर्थकं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

अनाद्यनन्तं परमं महीयसं,
विभोः स्वरूपं परिचाययन्मुहुः ।
युगानुरूपं च पथं व्यदर्शयत्,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

उपेक्षिता यज्ञमहादिकाः क्रियाः,
विलुप्तप्रायं खलु सान्ध्यमाह्निकम् ।
समुद्धृतं येन जगद्धिताय वै,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

तिरस्कृतं विस्मृतमप्युपेक्षितं,
आरोग्यवाहं यजनं प्रचारितुम्।
कलौ कृतं यो रचितुं समुद्यतं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

तपः कृतं येन जगद्धिताय वै,
विभीषिकायाश्च जगन्नु रक्षितुम्।
समुज्ज्वला यस्य भविष्य-घोषणा,
परं महाकालममुं नमाम्यहम्॥ ६ ॥

मृदुह्युदारं हृदयं नु यस्य यत्,
तथैव तीक्ष्णं गहनं च चिन्तनम्।
ऋषेश्चरित्रं परमं पवित्रकं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ७ ॥

जनेषु देवत्ववृत्तिं प्रवर्धितुं,
नमो धरायाश्च विधातुमक्षयम्।
युगस्य निर्माणकृता च योजना,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥

यः पठेच्चिन्तयेच्चापि, महाकाल-स्वरूपकम्।
लभेत परमां प्रीतिं, महाकालकृपादृशा ॥ ९ ॥